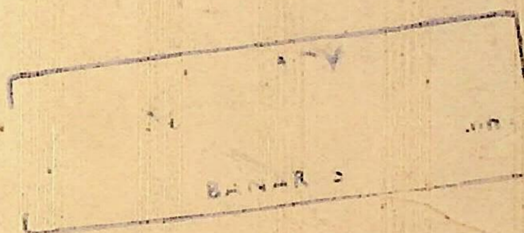
सख्य-संवाद

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रांगण में



विमला ठकार

चि. इंदुस सस्नेह –
शुभाशीष.

रामनवमी
1971.



सख्य-संवाद

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रांगण में

विमला ठकार

संपादिका
प्रेमलता शर्मा

(आठ प्रवचनों और तीन प्रश्नोत्तरियों का संकलन)

प्रकाशक :
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–५

वितरक :
विमल प्रकाशन ट्रस्ट की ओर से
दी न्यू ऑर्डर बुक कं०
एलिस ब्रिज, अहमदाबाद–६

प्रथम संस्करण : मार्च १९७१
मूल्य : ३)

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१

प्राक्कथन

विमला बहन के कुछ प्रवचनों को जो उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ध्यान-शिविर में दिये थे, मुझे सुनने का अवसर मिला। उनके प्रवचन बड़े ही मार्मिक और अनुभूति के आधार पर होते हैं। जो बातें विमला बहन कहती हैं वे हृदय तक पहुँच जाती हैं, क्योंकि वे कोई बात ऐसी नहीं कहती हैं जिसका उन्होंने खुद अनुभव नहीं किया। वे बाहर से जैसी निर्मल हैं, वैसी ही भीतर से भी। मुझे प्रसन्नता है कि प्रेमलता बहन उनके प्रवचनों को एकत्रित करके एक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं। निःसन्देह यह पुस्तक उन लोगों के लिये बहुत उपयोगी होगी जिनको विमला बहन के प्रवचन सुनने का अवसर नहीं मिला।

१८।३।१९७१

कालूलाल श्रीमाली
(कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

सम्पादकीय निवेदन

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अगस्त, १९६९ में विमलाजी के काव्य-संग्रह "मौन के अनुनाद" की भूमिका लिखी थी। तभी से उनकी इच्छा थी कि कभी विमला वहन को यहाँ प्रवचन करने के लिए निमन्त्रित किया जाए। तदनुसार १४–१६ फरवरी, १९७० को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वहन के तीन सार्वजनिक प्रवचन हुए थे। उस समय कुछ श्रोताओं (श्रीरोहित मेहता, प्रो. वी. वी. चलम्, प्रो. के. एस. विश्वनाथन्, श्री एस. सोमस्कन्दन्) ने ऐसी इच्छा प्रकट की थी कि कभी विश्वविद्यालय में 'शिविर' का आयोजन हो जिसमें जिज्ञासुओं के वीच विमलाजी के प्रवचन और प्रश्नोत्तर हों। कुछ जिज्ञासुओं की यह वीजरूप इच्छा अगस्त, १९७० में अंकुरित हुई, जव मैं वहन के साथ नॉर्वे में एक सप्ताह रही थी। तव उन्होंने 'ध्यान शिविर' की तिथियाँ, रूपरेखा आदि का निर्देश दिया था।

सितम्वर में भारत लौटने के वाद मैंने कुलपति महोदय डॉ. का. ला. श्रीमाली से चर्चा की। आप ने सहर्ष शिविर के आयोजन का अनुमोदन किया। नवंबर के प्रारम्भ में निम्नलिखित व्यक्तियों की एक 'ध्यान शिविर आयोजन समिति' गठित हुई।

१. डॉ. का. ला. श्रीमाली, कुलपति का. हि. वि.
२. महामहोपाध्याय डॉ. श्रीगोपीनाथ कविराज।
३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।
४. श्री रोहित मेहता।
५. श्री उ० रामचन्द्र राव, वित्ताधिकारी, का. हि. वि.
६. प्रो. टी. आर. अनन्तरमन्, प्रमुख, इंजीनियरिंग संकाय।
७. डॉ. के. एन. उडुपा, प्राचार्य, चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय।
८. डॉ. कु. सरोजिनी वार्ष्णेय, प्राचार्या, महिला महाविद्यालय।

९. श्रीमती लीला शर्मा, प्राचार्या, वसन्त कन्या महाविद्यालय।
१०. प्रो. के. एस. विश्वनाथन्, अध्यक्ष, सिलीकेट टेक्नॉलॉजी विभाग।
११. प्रो. वी. वी. चलम्, अध्यक्ष, इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग विभाग।
१२. डॉ. वाई. एस. आर. के. शर्मा, विद्यार्थियों के डीन। (उपमन्त्री)
१३. प्रो. वनमाली लाहिड़ी, रसायनशास्त्र विभाग।
१४. ठाकुर श्रीजयदेव सिंह।
१५. श्री एस. सोमस्कन्दन्, प्रशासन के उपकुलसचिव।
१६. श्री एस. पी. त्रिपाठी, जनसंपर्क-अधिकारी।
१७. डॉ. कु. प्रेमलता शर्मा, प्रमुख, संगीत एवं ललित कला संकाय। (मन्त्री)

पहले जनवरी के प्रथम सप्ताह और फिर तृतीय सप्ताह की तिथियाँ तय हुईं, किन्तु अन्त में फरवरी १७ से २१ तक ध्यान शिविर संपन्न हुआ। गुजरात के सुप्रसिद्ध साहित्यिक और साधक श्री किशनसिंह चावड़ा विमलाजी के साथ पधारे थे। आप ने शिविर का उद्‌घाटन किया। आप का इस युग के अनेक महापुरुषों से निकट का संपर्क रहा है। यथा—श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गाँधीजी। परम भागवत श्रीकृष्णप्रेम, जिन्होंने ब्रिटेन में उत्पन्न देह में वैष्णवता को साकार किया था, उनके आप शिष्य हैं। आपकी उपस्थिति से शिविर में विशेष आनन्द रहा। स्मरणीय है कि श्रीकृष्णप्रेम ने पूर्वाश्रम में (जब उनका नाम श्री निक्सन था) प्रायः ४५ वर्ष पूर्व का. हि. वि. में कुछ दिन अंग्रेज़ी विभाग में अध्यापन-कार्य किया था।

जिस प्रकार उद्‌घाटन के लिए हमें अधिकारी व्यक्ति मिले उसी प्रकार समापन के लिए भी श्री रोहित मेहता हमें उपलब्ध हुए। आपने समापन भाषण में विमलाजी का हार्द, मर्म बड़े सुन्दर, व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया।

विमलाजी को जोधपुर कॉलॉनी, का. हि. वि. के रीडर फ्लैट १० में ठहराया गया था और उसी की छत पर शामियाना लगा कर शिविर की सभाओं की व्यवस्था की गई थी। कार्यक्रम-विवरण निम्नलिखित है।

कायक्रम	तिथि	समय
उद्घाटन सभा (भजन, कुलपति महोदय के सभापतित्व में श्री किशनसिंह चावड़ा द्वारा उद्घाटन, विमलांजी का प्रवचन)	१७–२–७१	सायं ५॥ से ७ वजे
प्रातःकालीन सभाएँ (भजन, विमलाजी के प्रवचन, मौन)	१८, १९, २०	प्रातः ९ से १०॥ वजे
सायंकालीन सभाएँ (भजन, प्रश्नोत्तर सभा)	१८, १९, २०	सायं ५ से ६॥ वजे
संगीत	१८, १९, २०	सायं ६॥ से ७॥ वजे
गीता समिति के तत्त्वावधान में मालवीय भवन में सार्वजनिक प्रवचन	२१-२-७१	प्रातः ८॥ वजे
सभापन सभा (शिविरार्थियों के अभिमत, श्री रोहित मेहता का भाषण, डा० प्रेमलता शर्मा द्वारा धन्यवाद, विमलाजी का सभापन-भाषण)	२१-२-७१	अपराह्न ४ से ६॥ वजे
शिविरार्थियों का प्रीति-सम्मेलन		सायं ६॥ वजे

समापन-सभा में सर्वश्री रवीन्द्र कुमार श्रृंगी, आर. सी. चौधरी, रामचन्द्र शुक्ल और सुरेशचन्द्र जैन—इन शिविरार्थियों ने शिविर के विषय में अपने विचार व्यक्त किये थे। चार दिनों में तीन विज्ञप्तियाँ बाँटी गई थीं, जिनमें प्रवचनों और प्रश्नोत्तरों का सारांश श्रोताओं के मनन के लिए रहता था।

१२ छात्र और ३६ इतरजनों (प्राध्यापक, कर्मचारी, नगरनिवासी) ने शिविर के लिए नाम लिखाए थे। इस छोटी-सी संख्या में विश्वविद्यालय के निम्नलिखित विभागों और नगर की संस्थाओं का प्रतिनिधित्व हुआ।

इञ्जीनियरिंग, टेक्नॉलॉजी, चिकित्सा-विज्ञान, आयुर्वेद, संगीत, ललित कला, संस्कृत, अंग्रेजी, मनोविज्ञान, दर्शन, महिला महाविद्यालय, गणित, भौतिकी (फ़िज़िक्स), रसायनशास्त्र, सार्वजनिक निर्माण विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, प्रशिक्षण, प्रशासन, **विश्वविद्यालय प्रांगण के निवासी**, वसन्त कन्या महाविद्यालय, तारा प्रेस, विशिष्ट नागरिक। विदेशी छात्रों में अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, ऑस्ट्रिया, बेल्जियम—इन देशों का प्रतिनिधित्व हुआ।

शिविर की आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में दो शब्द अप्रासंगिक न होंगे। विश्वविद्यालय से निम्नलिखित अनुदान मिला था।

विमलाजी के मार्ग-व्यय के लिए ९००), रिकार्ड करने के लिए 'टेप' के निमित्त ५००) और काग़ज़, छपाई आदि के लिये १०००)।

शिविरार्थियों से प्रवेश शुल्क के रूप में ४२५) जमा हुए थे। एक शिविरार्थिनी (श्रीमती सुशीला केला) से ९०) अतिरिक्त प्राप्त हुए। इस प्रकार कुल मिलाकर ५१५) जमा हुए जिसमें से निम्नलिखित व्यय किया गया।

स्टेंसिल, 'काग़ज़, बिल्ले, सूचना पट १३७.५०, यातायात २५.००, डाकतार ३५.००, प्रीति-सम्मेलन ११६.००, शामियाना–२४६.०० । कुल व्यय ५५९.५०। इस प्रकार ४४.५० का घाटा रहा।

विश्वविद्यालय के अनुदान में से मार्ग-व्यय यथावत् निकल गया। ५०२) के नौ टेप खरीद कर, 'रिकार्ड' करके विमल प्रकाशन ट्रस्ट को भेंट कर दिए गए और १०००) इस पुस्तक के मुद्रण में लगाया गया है। कागज़, मुद्रण और जिल्द के कुल खर्च में प्रायः ३००) अतिरिक्त व्यय विश्वविद्यालया वहन करेगा।

विश्वविद्यालय का अनुदान सर्वथा अप्रत्याशित था। उससे जो अमूल्य सहायता मिली उसके लिए हमारी कृतज्ञता कुलपति महोदय डॉ० का० ला० श्रीमाली और वित्ताधिकारी महोदय श्री उ. रामचन्द्र राव को अर्पित है। शिविर में जिन महानुभावों का, कर्मचारियों का सहयोग रहा, उनका उल्लेख पृथक् रूप से किया गया है। तद्वत् संगीत-सम्बन्धी सेवा जिन्होंने अर्पित की उनका उल्लेख पृथक् शीर्षक में किया गया है!

विमलाजी की वाणी का 'वादी स्वर' मुझे 'सख्य' ही सुनाई पड़ा और उस 'वादी' का 'संवादी' है श्रोता का चित्त। इसलिए 'सख्य-संवाद' शीर्षक ही उचित लगा।

१९७० में तीन प्रवचन हुए थे। उनमें से तीसरा प्रवचन अंग्रेज़ी में हुआ था। किन्तु विशेष परिस्थितियों में उसका 'टेप रिकार्ड' सुरक्षित नहीं रह पाया। उसके साथ ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्रीरोहित मेहता के सभापति पद से कहे गए शब्दों के रिकॉर्ड भी नष्ट हो गए। अतः विमलाजी के दो हिन्दी प्रवचन ही प्रस्तुत संग्रह में दिये जा सके हैं।

१९७१ के ध्यान शिविर का 'श्रवण-मंगल' समग्र रूप में प्रस्तुत है, प्रायः शब्दशः अविकल रूप में। अंग्रेज़ी अंशों को अंग्रेज़ी में ही रखना उचित लगा। संपादन की सभी त्रुटियों, विच्युतियों के लिए पाठकों से क्षमा-प्रार्थना है।

सहजीवन इस शिविर में नहीं हो पाया। ईश्वरेच्छा रही तो कभी सहजीवन की व्यवस्था भी हो सकेगी। ऐसा लगता है कि का. हि. वि. से विमलाजी का सम्पर्क क्रमशः कुछ घनिष्ठ रूप धारण करेगा।

प्रेमलता शर्मा
प्रमुख,
संगीत एवं ललित कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

शनिवार,
चैत्र शुक्ल प्रतिपद,
२७ मार्च, १९७१।

संगीत कार्यक्रम

दिनांक	समय	प्रस्तुतकर्ता	पद	संगतिकार
१७-२-७१	सायं	पं. वलवन्तराय भट्ट	धुनि सुनि के मनुआ मगन हुआ	श्री पाँचू महाराज
१८-२-७१	प्रातः	सुश्री प्रेमलता शर्मा	मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होई रे	×
१८-२-७१	सायं	,,	सोच समझ अभिमानी	×
१८-२-७१	सायं	श्रीमती न० राजम्	वायलिन-वादन (राग कल्याण, देश)	श्रीछोटेलाल मिश्र
१९-२-७१	प्रातः	सुश्री प्रेमलता शर्मा	नैहरवा हम का न भावे	×
१९-२-७१	सायं	श्रीभालचन्द्र वा. पाटेकर	मन लागो मेरो यार फकीरी में	×
१९-२-७१	सायं	श्रीराजभान सिंह	सितार-वादन (राग पूरिया धनाश्री, काफ़ी)	श्रीरामजी मिश्र
२०-२-७१	प्रातः	सुश्री प्रेमलता शर्मा	साधो, सहज समाधि भली	×
२०-२-७१	सायं	पं० वलवन्त राय भट्ट	गायन (राग वहार, भजन– सुरत सुहागन जाग)	श्रीबाबूलाल पखावजी
२१-२-७१	प्रातः	श्रीचित्तरंजन ज्योतिषी	१) वसो मेरे नैनन में नंदलाल २) जिसको नहीं है बोध	श्रीपाँचू महाराज
२१-२-७१	सायं	श्रीमती श्रीदेवी मेहता	लागी मोहि राम खुमारी	×

कृतज्ञता-निवेदन

निम्नलिखित महानुभाव हमारी हार्दिक कृतज्ञता के भाजन हैं।

१. आयोजन-समिति के सदस्यगण।

२. संगीत-कार्यक्रमों के प्रस्तुतकर्ता तथा संगतिकार।

३. श्री वेन हॉवर्ड (इण्डियाना, अमेरिका, के छात्र) जिन्होंने पूरे शिविर के 'श्रवण-मंगल' को 'टेप रिकॉर्ड' किया और 'टेप' की लिपि बनाने में अमूल्य सहायता दी।

४. श्रीरामचन्द्र शुक्ल, अध्यक्ष, चित्रकला विभाग तथा उनके सहयोगी श्रीगोकुल प्रसाद, श्रीवैजनाथ गुप्त एवं विद्यार्थी, जिन्होंने बिल्ले बनाने एवं साज-सज्जा का कार्य किया।

५. टंकण (टाईपिंग) के लिए स्वामी निजबोध और श्रीरमेशचन्द्र पाठक।

६. पुस्तक-विक्री की व्यवस्था के लिए श्री रवीन्द्रकुमार शृंगी।

७. प्रीति-गोष्ठी के आयोजन के लिए श्री रवीन्द्रकुमार शृंगी, श्री कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव, स्वामी निजबोध।

८. सामान्य व्यवस्था के लिए श्री के. वी. कृष्णन्, श्री एस. एन. सरकार, श्री छविनाथ मिश्र।

९. फोटो खींचने के लिए श्री डी. एल. वोहरा।

१०. बिजली के व्यवस्था के लिए श्री महाराज किशन और श्री सुरेन्द्र कुमार शर्मा।

११. सफ़ाई तथा अन्य कार्यों के लिए सर्वश्री रूपचन्द, छोटेलाल, दूधनाथ, मुराही राम, नखरू, खैराती, वाबूनन्दन, श्रीराम, जवाहर।

१२. शिविर के सदस्यगण।

१३. मुद्रण के लिए श्रीबाबूलाल जैन फागुल्ल, महावीर प्रेस के स्वामी।

विषय-क्रम

: २ :

: ३ :

ENGLISH SECTION

ERRATA

Page	*Line*	*Incorrect*	*Correct*
128	9 from top	psyehe	psyche
132	12 from top	get	got
142	5 from bottom	ominate	dominate
144	4 from top	Intelligence,	Intelligence ?
144	2 from bottom	that name, he is	that he is

सख्य-संवाद

•

१९७० की प्रवचनमाला

१९७१ के ध्यान-शिविर का श्रवण-मंगल

•

English Section



१९७० की प्रवचनमाला

: १ :

स्थान—मालवीय भवन दिनांक—१४. २. ७०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय समय—अपराह्न पाँच बजे
सभापति—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

यह प्रभु का अनुग्रह है कि आप लोगों की सेवा में कुछ अन्तरङ्ग की बातें शब्दाङ्कित करके रखने का अवसर आज मिला।

शब्द-व्यापार

शब्द-व्यापार एक अत्यन्त खतरनाक वस्तु है। शब्द तो प्रतीक हैं, अन्तर की अनुभूति के, और इनका विनियोग नितान्त सावधान होकर, ध्यानावस्थित होकर करना पड़ता है। वक्ता और श्रोता दोनों यदि ध्यानावस्थित हो कर सहयोग कर सकें तो शब्दों के सेतु की मदद से, जो सङ्केत हैं, वहाँ तक पहुँचा जा सकता है। आखिर शब्द हैं सेतु, एक-दूसरे के हृदय तक पहुँचने के लिये, चेतना का परस्पर स्पर्श पाने के लिए। यह वृत्ति यदि वक्ता और श्रोता की रहे, तो शब्द-व्यापार में जो खतरा है, वह कम हो सकता है। आखिर अनुभूति की अवस्था में तो बोला नहीं जाता। चारों वाणियों का लोप हो जाता है, जब चित्त अनुभूति की अवस्था में होता है। शब्द उठते हैं, तो अनुभूति की स्मृति को लेकर उठते हैं। तब बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है। स्मृति में जो कुछ संचित किया है, उसका उपयोग करना पड़ता है। तब कहीं शब्दों द्वारा आदान-प्रदान होता है। यहाँ अनुभूति की ताज़गी तो शब्दों में रहेगी, लेकिन शब्द कोई अनुभूति नहीं होते। उस ताज़गी, उस सौरभ को यदि पायें तो श्रोता कहे कि हाँ ज़िन्दा शब्द हैं। नहीं तो कहना पड़ेगा कि शब्द मरे हुए हैं,

या तो उधार लिये हुए हैं, या कल्पना का विलास है, या वाणी का शृंगार हैं। लेकिन वहाँ फिर चेतना का परस्पर स्पर्श नहीं हो पाता।

सुख-संवाद

यहाँ के विश्वविद्यालय ने बड़ी कृपा की कि एक ऐसे व्यक्ति को निमन्त्रित किया, जिसके पास प्रतिपादन करने के लिए कुछ भी नहीं, सुख-संवाद में जिसे आनन्द है, प्रतिपादन का अभिनिवेश नहीं, आवेश नहीं। कोई विचार-प्रणाली नहीं, जिसका प्रचार कर सकूँ। यह तो विना मिर्च-मसाले का भोजन है। ऐसे व्यक्तिको बुलाना एक साहस का काम है। आप मेरी कृतज्ञता को समझ सकेंगे। सुना है कि तीन बार यहाँ आप के साथ बैठना होगा, कुछ आत्मसुख की बातें होंगी। इन तीन * गोष्ठियों में आप और हम एक धरातल पर खड़े हो जायँ, संवाद के धरातल पर, मित्रता के धरातल पर, ऐसी आशा रखूँ तो शायद उसमें कोई अनुचित बात नहीं होगी।

अभी मेरा परिचय देते समय कहा गया, कि भूदान छूटा और दूसरी प्रवृत्ति शुरू हुई। मालूम नहीं प्रवृत्ति शुरू हुई या निवृत्ति शुरू हुई, या जिसके साथ 'प्र' या 'नि' उपसर्ग लग सकते हैं, वही (वृत्ति) स्वयं समाप्त हो गई—इस का पता नहीं। हम तो जीते चले जा रहे हैं, और जीवन में जो पाया जाता है, उसे आज आपके साथ बाँट के खायेंगे। उसमें जो सेवन होगा, वह जितना आप करेंगे, उससे कम तो मुझे नहीं प्राप्त होगा।

गम्भीरता

आखिर जब चार गम्भीर, चिन्तन करने वाले और जीवन से प्रेम करने वाले व्यक्ति एकत्र बैठते हैं तो बातें हो क्या सकती हैं? किस विषय पर हो सकती हैं? यह उनकी बात कह रही हूं, जिनके चित्त में गम्भीरता हो। गम्भीरता एक बड़ी दुर्लभ वस्तु है, और गम्भीरता के विना वस्तु-स्थिति के यथातथ्य

---

* तीसरा प्रवचन १६ फरवरी, १९७० को अंग्रेज़ी में हुआ था। किन्तु दुर्भाग्यवश उसका 'टेप-रिकॉर्ड' सुरक्षित नहीं रह सका और इसलिए उसका प्रकाशन असंभव रहा।

दर्शन नहीं हो पाते । सामने कोई प्रसंग देखा, कोई कठिनाई देखी, संकट आया, और चित्त में तनाव पैदा हो गया । तो, चित्त में तनाव पैदा होते ही सन्तुलन खो जाता है, और जहाँ सन्तुलन खो जाता है, वहाँ परिस्थिति के सम्यक् दर्शन हो पाते । तो फिर प्रतिसाद कहाँ से सम्यक् उठ सकेगा ? समस्या सामने आयी, और समस्या को देखने लगे अपनी किसी विचार-प्रणाली के आलोक में । अपने पास जो सञ्चित, संगृहीत मूल्य होंगे उनके आलोक में समस्याओं को देखने लगे । दिक्कतों को सुलझाना चाहते हैं, लेकिन मूल्याङ्कन के आलोक में, विचार-प्रणाली के आलोक में, परम्परा या सम्प्रदाय के आलोक में । तो, समस्या के सामने आते ही बुद्धि में तनाव पैदा हो जाता है । चित्त में तनाव पैदा हो या बुद्धि में, तब सन्तुलन नहीं रह पाता । और जो सन्तुलित नहीं, वह गम्भीरता को कभी धारण नहीं कर सकेगा ।

गम्भीरता अनिवार्य है, जीवन को समझने के लिए । जीवन के यथातथ्य दर्शन पाने के लिए। और यह गम्भीरता दुर्लभ है । आदत हो गई है हमें, अभ्यास हो गया है कि भावनाओं के आवेग उमड़ते हैं, और उन आवेगों के चश्मे लगा कर हम देखना चाहते हैं, और उन्हें सुलझाना भी चाहते हैं । असन्तुलित व्यक्तित्व को ले कर समस्याओं को सुलझाने का प्रयास, "अव्यापारेषु व्यापारः" आज संसार में सभी जगह चल रहा है । सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय—सभी क्षेत्रों में यही चल रहा है । जो स्वयं रुग्ण हैं वे सुलझाने चले हैं मानवजाति की भयानक गम्भीर समस्याओं को । युद्धों का विराम चाहते हैं, हिंसा का विसर्जन चाहते है, लेकिन चित्त रुग्ण है, बुद्धि में तनाव है । सुलझाने की पद्धतियों की कमी नहीं है, समाधान के उपायों की कमी नहीं है । कमी है स्वस्थ मानव की, जो उनको अमल में ला सके ।

दिन के चौबीस घण्टे में सुबह से रात तक जिनके चित्त पर और बुद्धि पर दबावों का, तनावों का आक्रमण होता ही रहता है, वे अपने ही जीवन की यथार्थता को नहीं देख पायेंगे, समस्याओं को नहीं सुलझा पायेंगे । तो फिर वे समाज की, देश की, और दुनिया की समस्याओं को कैसे सुलझा पायेंगे ? लेकिन मनुष्य ऐसा अविवेक करता है । भारत के ही नहीं, सारे संसार के मानव के

सामने यह सवाल है कि पहले स्वस्थ तो हो लें। गम्भीरता व्यक्तित्व में वह सन्तुलन भर देती है, जिसका सौरभ है स्वस्थता, सर्वाङ्गीण स्वस्थता। फिर उस स्वस्थता को लेकर परिस्थिति को देखें, समस्याओं को समझें। समस्याओं को जैसे-जैसे समझते जाते हैं, वैसे समस्याओं के आकलन में से उनके सुलझने के रास्ते ऐसे खुलते आते हैं—जैसे पुष्प की पंखुड़ियाँ खिलती हों—एक के वाद एक पंखुड़ी मानों खुलती चलती है। तो, मैं कह रही थी कि एक गाम्भीर्य, एक गम्भीरता अनिवार्य है, और ऐसे गम्भीर व्यक्ति जव सुख-संवाद के लिये एक जगह आते हैं, तो जीवन की ही वात करेंगे। और दूसरी क्या वात हो सकती है ?

जीवन

जीवन है रसगंगा। जीवन है रस का एक अक्षुण्ण प्रवाह। वह तो परमात्मा का वर्णन है,—"रसानां रसः।" लेकिन लगता है कि अणु-परमाणु में रस निहित है। और जीने की कला इसी में है कि उस रस को पाया जाय। जीवन में जो रस निहित है, अनुस्यूत है, पल-पल में, क्षण-क्षण में जो एक छन्द है, विधाता के वनाये हुए इस विश्व में जो लय है, जो गति है—रस ही तो गति है जीवन की—उसको, कैसे पाया जाय, उसके साथ समरस होकर, एकरस होकर, कैसे जिया जाय, यह एक विषय है, जिस पर संवाद हो सकता है। मैंने तो पहले ही आप से वहुत विनयपूर्वक कहा कि संसार के सामने, या जिस देश में आप हम और वैठे हैं, उस देश के सामने, आज जो समस्यायें हैं, उनका मुझे भान है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह राष्ट्र ऐसे सङ्कटकाल में से गुज़र रहा है कि जिसकी पिछले कई शतकों में कोई मिसाल नहीं। लेकिन समस्याओं की जड़ें जहाँ पड़ी हैं, व्यक्ति में, उसको पहले टटोलना होता है। संसार की सभी समस्याओं की जड़ मनुष्य की चेतना में हैं। तो वहाँ वे जड़ें कैसे फैलीं, क्यों फैलीं, और कौन-कौन सी विकृतियाँ व्यक्ति में पैदा हो गई हैं,—यह सव देखें।

इस दृष्टि से आज प्रारम्भ करूँगी कि मानव जीवन के दर्शन क्यों नहीं कर पाता। होते हैं, तो वे खण्डित दर्शन क्यों होते हैं, अखण्ड के दर्शन क्यों नहीं हो

पाते। मनुष्य अपने-आप को क्यों नहीं समझ पाता। इस विषय से आज आरम्भ करने की इच्छा है। कहाँ तक कहा जायेगा यह मालूम नहीं है। जीवन यदि जीने के लिये है, और जीना यानी निहित रस में एकरस होकर, उसकी गति में गति, लय में लय मिलाकर चलना। यहाँ तक की बात यदि समझ में आने लायक प्रतीत होती हो तो हम आगे बढ़ें।

खण्डित दर्शन

मेरी समझ में कभी, बचपन से लेकर आज तक, नहीं आया कि जीवन का प्रयोजन लोग जीवन के बाहर क्यों ढूँढते हैं ? जीवन का उद्देश्य, लक्ष्य, जीवन के बाहर क्या हो सकता है ? जीवन की कृतार्थता जीवन में है, उससे बाहर उसका लक्ष्य क्या हो सकता है ? यह कभी नहीं समझ में आया कि परमात्मा की खोज जीवन को छोड़कर बाहर क्यों की जाती है ? जो प्रतिदिन का जीवन मिला है—सुबह से रात तक; अपने शरीर के साथ सम्बन्ध है, वस्तुओं के साथ, पदार्थों के साथ सम्बन्ध है, जो सृष्टि के अनन्त घटक हैं, उनके साथ सम्बन्ध है—इन सम्बन्धों के बाहर परमात्मा की खोज, मुक्ति की खोज ! जाने क्या-क्या धर्म और अध्यात्म के नाम पर संसार में चलता आया है। तो, यह समझ में नहीं आया कि यह बाहर खोज क्यों होती है। यह भीतर और बाहर, बाहर और भीतर का भेद क्यों, कहाँ पैदा हुआ ? समग्रता को 'अन्दर' और 'बाहर' में खण्डित और विभाजित किसने कर दिया, कैसे कर दिया ? अखण्ड के दर्शन कैसे होंगे यह सवाल नहीं, दर्शन खण्डित क्यों होते हैं यह सवाल है।

पता नहीं आप भी कभी यह सवाल अपने से पूछते होंगे या नहीं, जैसा कि बचपन से मेरे भीतर उमड़ता घुमड़ता रहा है, कि क्या यह कहना जरूरी है कि ये हमारे सम्बन्ध जो वस्तुओं के साथ हैं, शरीर के साथ हैं—वे जड़ हैं; भौतिक के साथ, जड़ के साथ सम्बन्ध हैं ? यह 'जड़' क्या बला होती है ? 'मैटर' क्या है ? ऐसी कौन सी बात हमें बाध्य करती है यह कहने के लिये कि कोई पाषाण-खण्ड हो, कोई अणु-रेणु हो, वह जड़ है ? जड़ और चेतन ऐसा भेद उपस्थित करने का कौन सा कारण है ? आज की भौतिकी (Physics) यह बता देती

है कि छोटे से छोटा जो परमाणु है, उसमें ऊर्जा की मात्रा-विशेष (Quantum of energy) है और ऊर्जा स्पन्दन-रूपिणी है। अब लोग मानेंगे कि जब भौतिकी भी कहती है तो आधितात्त्विकी (Metaphysics) की बात भी शायद ठीक हो। लोगों ने मान लिया था कि आधितात्त्विकी यानी भौतिकी का विरोधी कुछ। तो यह कोई विवेकयुक्त नहीं लगता, कोई अनिवार्य नहीं लगता, इसमें कोई वैज्ञानिकता नहीं लगती कि इस प्रकार का भेद लेकर चला जाय।

अन्न खाते हैं, यह क्या भौतिक, शारीरिक, जैविक (Biological), जड़ (material) व्यापार है ? क्या जड़ है ? अन्न का दाना ? एक कण बोने पर जो धरती मन भर देती है, उसकी जो सर्जनशीलता है, उसका अन्न के एक-एक दाने में क्या स्पर्श नहीं होता, जब एक-एक ग्रास मुँह में डालते हैं ? जल-भरी प्याली जब अधरों से लगाते हैं तब जल की बूँदों में चेतन का स्पर्श नहीं होता क्या ? $H_2 O$=Water—इतना ही स्पर्श होता है क्या ? या पहाड़ की चट्टानों को तोड़कर कूदता-फाँदता जो झरना निकल पड़ता है, उसमें जो ऊर्जा के स्पन्दन हैं, उनका भी स्पर्श उन जलकणों में हमें होता है ? हम सम्बन्ध होने तो दें—वह फिर अनाज के दाने से हो या जलकण से हो। नहाने बैठे हैं और जल उँडेल रहे हैं। उन बूँदों में सप्तसागरों के और समस्त नदियों के जल का अनुभव नहीं होता ? अभिषेक कर रहे हैं ऐसा नहीं लगता ? वस्त्र पहन रहे हैं, उसमें भी आप देखिये न ! मैं नहीं कह सकती कि कोई भी ऐसा कर्म है जिसको आप "भौतिक" विशेषण दे सकें। फिर वह खेत में हल चलाने का हो या करघे पर बैठकर वस्त्र बुनने का, या रसोई-घर में बैठकर खाना पकाने का, या बर्त्तन मलने का ही काम क्यों न हो।

जीवन समग्र है

धर्म के नाम पर, साधना के नाम पर एक नया संसार खड़ा ही क्यों करना पड़े ? और मुक्ति को इन सब से बाहर ढूँढना ही क्यों पड़े ? कहीं यहीं पर तो हमने सभी तनावों और दबावों की जड़ नहीं बो दी है ? कहीं यहीं तो वह बीज नहीं है, जो हमारे व्यक्तित्व में संघर्ष और द्वन्द्व पैदा करता है। तो, अनुरोध

यह है कि इस तरफ़ ध्यान दिया जाय कि जीवन जो है वह समग्र है, एक चिन्मय का व्यापार है। आवरणों की विविधता है, लेकिन आवरणों में छिपी ऊर्जा झाँकती रहती है। कभी किसी पहाड़ पर चले जाइये और ज़रा गौर से चट्टानों से आँख मिलाकर देख तो लीजिये ? कभी सुना है जङ्गल के वृक्षों में किसी डाली पर किसी एकाकी पक्षी का स्वर ? आप पायेंगे कि सारे विश्व में चिन्मय को छोड़कर, ऊर्जा को छोड़कर किसी की सत्ता नहीं।

मनुष्यों के व्यवहार में आइये, मनुष्यों के सम्बन्धों में आइये। जिनको आप सज्जन कहते हैं, दुर्जन कहते हैं, पापी कहते हैं, पुण्यशील कहते हैं, उनमें क्या है ? मुझे तो पता नहीं क्या होता है पाप और पुण्य, कहाँ उनकी रेखायें कौन खींच देता है ? लेकिन इनकी आँखों में झाँककर देखिये। दम्भ और पाखण्ड के पीछे कौन-कौन-सी विवशतायें रहती हैं, जिनके कारण अपने आपको विकृत और कुरूप बनाने के लिए मनुष्य राजी हो जाता है ? उन्हें देख लेने पर उसकी वेदना फिर उस दम्भ और पाखण्ड में से आपको छू जायेगी। मनुष्य की क्रूरता के पीछे—अपने आपको अधःपतन में डालने के लिए वह क्यों तैयार हो गया—वह दीनता, वह हीनता, वह कृपणता—इन सबका स्पर्श होने लगेगा। आख़िर जीवन जीना इसी ढंग से तो सीखा जाता है। आँसू बहाने में भी जीवन है और मुस्कान को बिखेर देने में भी जीवन है। सुख की गुदगुदियों में भी जीवन है और दुःख की व्यथा में भी जीवन है। मिलन में यदि जीवन की मुस्कान है तो विरह में भी तो जीवन का स्पन्दन है।

जीने का पुरुषार्थ

मनुष्य हर चीज़ को देखने लगे, हर सम्बन्ध को निरखने लगे—आँख खोल कर। किताबों में लिखे हुए विचारों को लेकर नहीं, दूसरों के अनुभवों को उधार लेकर नहीं, खुद देखने का पुरुषार्थ करे कि अपने साथ क्या घटित होता है तो शायद इन सब द्वन्द्वों के बीच में जैसे—नदी दो पाटों के बीच से होकर बहती है—वैसे ही इन सभी द्वन्द्वों के बीच में से होकर गुज़रती हुई जो जीवन-धारा है उसका स्पर्श हुए बिना नहीं रहेगा। तो, पहले यह साहस करना पड़ता

है कि हम जीवन जियेंगे। मालूम नहीं, हमें रस है या नहीं जीवन जीने में। हमें यही सिखाया गया है, यही सुना हमने बचपन से, "पैसा कमाओ, प्रतिष्ठा कमाओ, शादी करो, बाल-बच्चे हो जाएँ, बैंक में कुछ जमा खाता हो जाए, प्रतिष्ठा हो जाए, थोड़ी जायदाद हो जाए–बस हो गये सफल नागरिक। बहुत हुआ तो दो-चार कुछ जन-सेवा के काम कर दो।" जीवन करने में नहीं, होने में है। जो गम्भीर व्यक्ति हो उसे जीवन जीने में रस आएगा।

तो, जीवन जीने के लिए पहला पुरुषार्थ है—सुबह से रात तक जो व्यवहार होते हैं, आज हम किस प्रकार वह व्यवहार कर रहे हैं, इसको देखना। यह है धर्म का आरम्भ। सत्य की खोज अपने जीवन में अपने भीतर निरन्तर करते रहना, यही है धर्म की जिज्ञासा। जो जिज्ञासा ग्रन्थों की तरफ़ ही ले जाएगी, जो जिज्ञासा परम्परा और सम्प्रदायों में कुछ-न-कुछ उपायों को ढूँढने में ही प्रवृत्त कर देगी, वह जिज्ञासा नहीं, वह कौतूहल है। कौतूहल और जिज्ञासा (Enquiry) बिल्कुल अलग चीजें हैं। केवल जानने की इच्छा को जिज्ञासा नहीं कह सकते हैं। वह तो अनन्त इच्छाओं में से एक है, अनेक वासनाओं में से एक है। वासना और कामना भले ही हो, लेकिन जिज्ञासा तो वह अग्निशिखा है जो भीतर एक बार जागृत हो जाये तो फिर बुझना ही नहीं जानती। उसका अपना एक आयाम है जीवन में। जिज्ञासा एक स्वतन्त्र आयाम है। जिज्ञासु व्यक्ति की आँखें, उसका उठना बैठना, खाना-पीना सब कुछ भिन्न हो जाता है। जमीन-आसमान का अन्तर हो जाता है हम लोगों में और जिज्ञासु में। धधक उठती है जिज्ञासा उसके भीतर।

जिज्ञासा

ऐसी धर्म-जिज्ञासा का जन्म फिर हृदय में होगा, जब जीवन में, जीने में रस होगा। जब यह लगेगा कि मुझे जीना है, जीवन क्या है, इसे देखना है। जन्म हुआ है तो मृत्यु भी आयेगी। जन्म क्या है, मृत्यु का प्रारम्भ ही है। जन्म और मृत्यु हाथ में हाथ मिला कर चलते है। लेकिन जन्म और मृत्यु के

द्वन्द्वों के बीच में से होकर जो जीवन वहता है, उसे देखना है, उसे पाना है। और धर्म है जीने वालों का काम, वहने वालों का नहीं।

तो, ऐसी धर्म-जिज्ञासा का जन्म जिन भाग्यशाली व्यक्तियों के हृदय में हो जाये, वे व्यक्ति फिर खण्डित दर्शन क्यों और कैसे करें ? और जिस चीज़ को चित्त छूता है उसे किस प्रकार वह तनावों से भर देता है, यह सब जो भीतर का खेल है, उसे वह फिर देख पाएगा। कहाँ बँधे हैं, कहाँ अटके है, कहाँ फँसे हैं, इसे वह देख पाएगा। और यह देखने के बाद, आत्मपरिचय पूरा होने के बाद ही फिर जिसे आप समाज, देश, राष्ट्र कहते हैं, उनके सवाल, उनकी समस्यायें देखने और छूने के अधिकारी हम बन सकेंगे।

मानव-समाज

आज तो सब अनधिकार चेष्टा है। धृष्टता लगेगी तो क्षमा कीजिएगा। लेकिन आज अर्थ-नीति, राजनीति सभी क्षेत्रों में यही अवस्था है कि अपने आप की पहचान नहीं, कहाँ खड़े हैं यह मालूम नहीं, क्या चाहिए अपने आपको यह भी मालूम नहीं और करोड़ों के सवाल हल करने जाते हैं। फिर दशा क्या होती है मालूम है न ? ज़बान पर बड़े-बड़े नारे हैं, इच्छा भी है कि देश का कुछ भला हम करें, लेकिन सत्ता की अभिलाषा, सम्पत्ति की अभिलाषा, संग्रह की लालसा इतनी जबर्दस्त है कि बुद्धि पर हावी हो जाती है। गुट बन जाते हैं समान अभिलाषा वालों के। देश कहीं दूर रह जाता है, जनता कहीं दूर रह जाती है। सत्ता, संपत्ति और प्रतिष्ठा की अभिलाषा के ताण्डव से सारा समाज सन्त्रस्त हो जाता है। इसलिए यह कोई आदर्शवादी बात नहीं, कोई मानव-विमुखता की बात नहीं। लेकिन जिसने आत्म-परिचय नहीं पाया और जिसने जीना नहीं जाना, वह समाज का नागरिक बने और समाज के लिए कुछ करे इसका अधिकारी नहीं है। आख़िर मानव समाज तो कोई पशुओं का झुण्ड नहीं है न। कोई पक्षियों का गिरोह तो नहीं है। इन दोनों में कोई अन्तर तो है। लेकिन आज वह अन्तर दिखाई नहीं देता। राष्ट्रों के व्यवहार में भी वही स्थिति है, फिर वह वियतनाम की लड़ाई हो, या मध्यपूर्व में जोर्डन

सीरिया और संयुक्त अरब गणराज्य के बीच जो चल रहा है, वह बात हो या अमेरिका-चीन-रूस के बीच जो तनाव है, या चीन व रूस के बीच जो तनाव है, वह हो। यह क्या मानव-समाज के सवाल हैं ? मानव का जन्म हुआ ही कहाँ है, जो समाज बन पायेगा ? आकृति से मानव बने हैं, लेकिन अभी प्रकृति से और आशय से मानव बनना शेष है। और उसके लिए आन्तरिक क्रान्ति आवश्यक है। उसी को मैं कहती हूँ समग्रता की क्रान्ति।

●

: २ :

गीता समिति के तत्त्वावधान में प्रवचन

स्थान—मालवीय भवन दिनांक—१५-२-७०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय समय—प्रातः ८।। बजे
सभापति—डॉ० का० ला० श्रीमाली, कुलपति।

भारत का दायित्व

आप और हम सब जानते हैं कि संसार एक अत्यन्त क्रान्तिकारी समय में से गुजर रहा है। जो देश अपने आप को धर्म-प्राण और अध्यात्म-प्रवण मानता है, उस देश के नागरिकों पर यह दायित्व आ जाता है कि जो कुछ संसार में घटित हो रहा है—एक छोर से दूसरे छोर तक—उसे देखें, समझें। जिस धर्म की सुबह से रात तक दुहाई देते हम थकते नहीं हैं, जिस अध्यात्म का दावा साहित्य, सङ्गीत, कला तथा प्रवचनों में हम करते रहते हैं, उस दावे के पीछे जीवन-निष्ठा है या नहीं, जीवन की अनुभूतियों का जल है या नहीं, या रूखी-सूखी उधार बातें हैं, इसको देख लें तो हो सकता है यह दिख जाए कि जिस विकट परिस्थिति में से संसार गुजर रहा है, उस परिस्थिति में इस अभागा कहे जाने वाले देश के पास, यहाँ की मिट्टी के कण-कण में, जल की हर बूँद में, हवा के हर झोंके में कोई ऐसी चीज़ पड़ी हुई है जो रास्ता सुझा सकती है।

दिव्य असंतोष

मुझ जैसा व्यक्ति, जो कुछ भ्रमणशील है, जिसे पूर्व से पश्चिम तक, दक्षिण से उत्तर तक, निरन्तर तथाकथित साम्यवादी, समाजवादी, लोकशाहीवादी सभी देशों में से घूमना होता है, सभी स्तरों के लोगों से मिलना होता है, वह यह देखता है कि एक अत्यन्त दिव्य असन्तोष का तूफ़ान और आँधी मानव की चेतना

पर टकरा रहे हैं। आप कहीं भी जायें—जापान या अमेरिका—आज की भौतिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक परिस्थिति से सन्तुष्ट कोई सहृदय और सावधान व्यक्ति होगा ऐसा आप को दिखेगा नहीं। एक ऐसी बेचैनी है युवकों से लेकर वृद्धों तक जिसे देख कर हृदय झूम उठता है कि यह तूफ़ान व आँधी, यह बेचैनी, सभी मूल्यों के प्रति चित्त में जागृत यह सन्देह, और उसके खिलाफ़ अपने जीवन की बाज़ी लगा कर खड़े होने वाले वे अविवेकी उच्छृङ्खल युवक, समझ नहीं पा रहे हैं किस दिशा में उठें ? किस दिशा में प्रयास करें ? टकरा रहे हैं अपने आप से और समाज से। यह सब देख कर कुछ आशा बँधती है कि जड़ता में से, तन्द्रा में से मानव कुछ उठ रहा है, करवट बदल रहा है। आपको आश्चर्य होगा लेकिन निराशा छू नहीं जाती है हमें—इतना सब देख लेने के बाद भी, घने अन्धकार में भी प्रकाश की आशा की कुछ प्रतीति होती है। वह क्या है ? क्यों है? इसी पर आज कुछ थोड़ी बातें आपके साथ करने को दिल कह रहा है।

विद्रोह की ज्वाला

जितने जीवनमूल्य, जितनी विचार-प्रणालिकायें पिछली कुछ शताब्दियों में योरप-अमेरिका में विकसित हुईं. जिनके आधार पर समाज बने और बिगड़े; राज आये, राष्ट्र बने, राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों का ताना-बाना लोग बुनते चले गये, वे मूल्य, वे विचारधारायें और जीवनपद्धतियाँ—इन सबके प्रति एक अत्यन्त प्रबल सन्देह उठा है। १९६८ के मई महीने की बात है। पेरिस में थी। ऐतिहासिक 'विद्यार्थि-क्रान्ति' चल रही थी, पता नहीं था कि कब वह विस्फोट होगा, मुझे सोर्बन विश्वविद्यालय में बोलना था, और लगभग १८ देशों के युवकों का अन्तर-राष्ट्रीय सामाजिक आन्दोलन चल रहा था। उसके नवयुवक नेता मिलने आए। मुश्किल से २० से २३ साल की उम्र होगी, जो नेता थे इतने बड़े आन्दोलन के। अपने साथियों के साथ आए तो मैंने पूछा कि "भाई यह जो इतना बड़ा तूफ़ान, विद्रोह उठा रहे हो, आखिर तुम चाहते क्या हो ?" वे कहने लगे "मानव खो गया है। पूँजीवाद, और साम्यवाद आदि असफल हो गये हैं; उन्हीं में मानव खो गया है। हम उसे पुनः पाना चाहते हैं, उसका उद्धार चाहते हैं।"

एक २३ साल का नवयुवक बोलता है कि पूँजीवाद से ले कर साम्यवाद तक जितनी भी विचार-प्रणालियाँ, जीवनधारायें, जीवनपद्धतियाँ आईं वे मानव के लिये, व्यक्ति के लिये कुछ कर नहीं पाईं, वह खो गया है—सामान में, ऐशो-आराम में; विचारधाराओं के बोझ के नीचे दब गया है, उस दबे, कुचले हुए मानव को उठाना है।

मैंने कहा—"भाई बड़ी अच्छी बात कही। उठाओगे कैसे ?" वे कहने लगे कि आज के जितने मूल्य हैं, उनको पहले तोड़ देंगे। विद्रोह की बात कहने लगे। उनको बड़े शहर नहीं चाहिये थे जहाँ मनुष्यों के सम्बन्ध व्यक्तिगत नहीं रहते। उत्पादन के विराट् आसुरी केन्द्र नहीं चाहिये थे, जिनसे उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक बहुत बड़ी माध्यमों की शृंखला खड़ी हो जाती है। अधिक विस्तार में न जाऊँगी, पर उनके विचारों के पीछे यदि मैं गाँधी या विनोबा के नाम लिख देती तो किसी को आश्चर्य न होता—ऐसे विचारों तक वे अपनी चुनौतियों में से पहुँचे हैं। उनकी विद्रोह की बातें तो सुन लीं। मैंने कहा "भैया विद्रोह कोई क्रान्ति नहीं होता है। विद्रोह और क्रान्ति में जमीन-आसमान का अन्तर है। समाजरचना बदल दोगे, सत्ता का हस्तान्तर करोगे, इससे क्या होगा ? तुम्हारी इस सारी अर्थरचना और समाजरचना के पीछे जो जीवन का मूल्याङ्कन है, उसको हटाना चाहते हो ? महत्त्वाकांक्षा के आधार पर सारी शिक्षणपद्धति और आर्थिक व्यवस्था खड़ी है, और महत्त्वाकांक्षा हिंसा को एक खुला निमन्त्रण देती है। तुलना व स्पर्धा उसके साथी हैं। तो, जहाँ स्पर्धा के ही आधार पर सारी राजनीति, अर्थनीति खड़ी है, उस समाज में तुम चाहते हो कि प्रेम, शान्ति, समता और बन्धुता आये ? क्या तुम आमूलाग्र क्रान्ति और प्रचलित मूल्यों में मौलिक परिवर्तन के लिये तैयार हो ? सवाल तो यह है।"

इन्हीं मूल्यों के, स्पर्धा, महत्त्वाकांक्षा, सफलता के पुजारी कभी बन्धुत्व और समता रख सकते हैं ? अहिंसा और प्रेम की बात कर सकते हैं ? वाग्-विलास करना हो तो बात अलग है। तो मैंने कहा कि तुम जिस शोषण को मिटाने की बात करते हो, हिंसा के विसर्जन की बात करते हो, वह इन दि गॉल, रॉबिंसन या जॉनसन् को हटाने से आने वाला नहीं है। वियतनाम की लड़ाई बन्द कर

दोगे, पर मानव के भीतर जो ताण्डव चल रहा है, उसको सोचोगे ? समाज-रचनायें और राजनीति व अर्थनीति धारण करने के लिये जो हृदय चाहिये, जो बुद्धि चाहिये, जो व्यक्तित्व चाहिये—वह कहाँ से लाओगे ? मानव खड़ा कहाँ होगा ? उसे खड़ा होने के लिये तुम में स्थान चाहिये ।

विद्रोह और क्रान्ति

क्रान्ति समग्रता में धटित होती है । विद्रोह बाह्य रचनाओं को वदल सकता है । समग्रता में क्रान्ति घटित होने का एक ही स्थान है—मानव का अपना हृदय, अपना जीवन । संसार को आवश्यकता क्रान्ति की है । विद्रोह से उथल-पुथल हो सकती है, विध्वंस हो सकता है पर आवाहन है विधायक सर्जन का । और विधायक सर्जन के लिये जो प्रतिभा के उन्मेष चाहियें वे द्वेष व कटुता से भरे हुए हृदयों में कभी नहीं उठ सकते । मङ्गलता और पवित्रता का जन्म क्रोध और घृणा में से नहीं हो सकता । इसलिये मैंने कहा कि यह देश धर्मप्राण होने का दावा करता है, वेद, उपनिषद् व भगवद्गीता के नाम जहाँ दोहराये जाते हैं, श्लोक रटे जाते हैं मुझ जैसों के प्रवचन भी सुने जाते हैं, किये जाते हैं । काम इनसे नहीं वनेगा । यह जीवन के परिवर्तन की चुनौती है, मौका है । आज भारत में ही नहीं सारे एशियाई देशों की भूखी, नंगी, गरीब जनता के सामने एक अवसर है कि जिस सारी जीवन-पद्धति में से पश्चिम में हिंसा का ताण्डव उठा, उससे अलग जीवन-पद्धति का यहाँ निर्माण करें और आध्यात्मिक जीवन के अधिष्ठान पर कुछ नया सर्जन हो । इसका अवसर है ।

इसीलिये मैंने कहा कि यह शुभ घड़ी है, शुभ वेला है, कि बेचैनी और असन्तोष के तूफ़ान व आँधी चेतना पर टकरा रहे हैं, आवाहन कर रहे हैं जीवन का । और जिस जीवन में सङ्कट व चुनौती नहीं, वह जीवन जीने लायक नहीं । आने वाला हर सङ्कट और हर विपत्ति भीतर की शक्ति को आज़माने का अवसर देते हैं । आपत्तियों को भूल से हम दुश्मन समझ लेते हैं । आपत्ति-विपत्तियाँ तो आवरणों में आवृत अवसर हैं ।

तो, समग्रता में घटित होने वाली क्रान्ति से अभिप्राय क्या है ? अभिप्राय

यही है कि यह जो संघर्ष है वह मनुष्य की चेतना में है। उसके विचार, उसकी बुद्धि, इच्छायें, भावनायें, उसके मूल्य, यह सारा जो एक पुञ्ज है उसके भीतर जिसे आप चित्त-चतुष्टय कहेंगे, या मनस् (पश्चिम में mind) नाम देंगे, उसमें परिवर्तन या क्रान्ति घटित होने की वेला है। (आरम्भ में गाये गये भजन में) यहाँ 'उन्मनि-रहनी'* की बात कही गई। यह उन्मनि-रहनी कोई मठों में, मन्दिरों में रहने वाली चीज नहीं, आपके व मेरे लिये है। चेतना के एक नये आयाम की आवश्यकता है।

जीवन और मन

आज जिस आयाम में बैठे हम जी रहे हैं, उसका स्वरूप क्या है ? इसको थोड़ा देखें, जितना देखा जा सकता है। आज जीवन के साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह है मन के द्वारा। मन में बुद्धि का भी समावेश कर रही हूँ। आप ने देखा होगा। यू० एस० ए० का एक ग्रन्थ "The discoveries of the midsixties." १९६०–७० के बीच जितने शोध हुए हैं, चाहे फ़िजिक्स हो, न्यूक्लियर फ़िज़िक्स हो, जीवविज्ञान या चिकित्सा-विज्ञान—सभी विषयों के शोध-विवरण उसमें अङ्कित हुए हैं। मैं समझती हूँ कि पिछले २५–३० वर्षों में जितनी तेज़ी से दुनिया आगे बढ़ी है उसके साथ गति रखना भी अपने आप में एक महान् दिव्य कर्म है। तो उस ग्रंथ में लिखा है कि लगभग १९६१–६२ में शोध हुआ है कि मस्तिष्क में कुछ ऐसे रक्तगोलक हैं, जिनमें मनुष्य जो भी ज्ञान ग्रहण करता है, जिन अनुभवों में से गुजरता है, वे सब परिवर्तित हो जाते हैं रसायन रूप में और संगृहीत रहते हैं। वे खोजने चले थे कि जीवविज्ञान का वंशानुक्रम क्या चीज़ है ? और पा गये यह चीज़। इस रसायन को निकाला भी जा सकता है और दूसरे व्यक्ति में प्रविष्ट कराया जा सकता है। मानसिक रोगियों में ज्ञान और स्मृति को प्रविष्ट कराने के प्रयोग चल रहे हैं।

---

* 'साधो। सहज समाधि भली'—कबीर का यह पद प्रवचन के प्रारम्भ में पं० बलवन्त राय भट्ट ने गाया था।

मन की कार्य-पद्धति

कह यह रही थी कि जीवन के साथ, अपने आप के साथ हमारा जो सम्बन्ध है वह है मन के द्वारा। मन की कुछ काम करने की पद्धति है। इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध से एक संवेदन जागृत हुआ, ज्ञानतन्तु उसे मस्तिष्क तक ले गये। मस्तिष्क में जो जानकारी, ज्ञान, अनुभव संगृहीत हैं, अपने-अपने परिवार के, जाति के, संस्कारों का भण्डार पड़ा हुआ है; उनके अनुसार मन उस संवेदन का अर्थ लगाता है, और उस अर्थ के अनुसार फिर प्रतिक्रिया होती है। यह काम विद्युत्-गति से चलता है। प्रकाश-किरण की गति कहूं तो अत्युक्ति न होगी। यह हमने क्यों मान लिया कि जो हमारी इन्द्रियाँ हमें बाह्य पदार्थों का संवेदन कराती हैं वे उस पदार्थ को उसकी समग्रता में देख सकती या ग्रहण कर सकती हैं। कोई भी प्रत्यक्ष-संवेदन लीजिये। क्या जो पदार्थ मेरे सामने है उसकी समग्रता को मैं देख पाती हूँ, सुन पाती हूँ ? स्वर सुना कोई एक, उसकी सब श्रुतियों (overtones and undertones) को कान कहाँ पकड़ पाते हैं ? इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति सीमित है, और वह भी शरीर स्वस्थ हो तो कुछ ठीक काम करती है, उसमें भी अकसर विकृति रहती ही है। सीमित व विकृत ग्रहणशक्ति से जो संवेदन जागृत होता है उसे मस्तिष्क तक पहुँचाने वाले ज्ञानतन्तु भी क्या उसे समग्रता में ले जा पाते हैं या किसी एक अंश को ही पहुँचाते हैं ?—इसे क्या हम कभी देखते हैं ?

अपने देखने पर इतना भरोसा रखना वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित नहीं। ज्ञानतन्तु की मर्यादा व विक्रिया से संवेदन को मस्तिष्क तक पहुँचाने का काम भी ठीक से नहीं हो पाता। अस्तु, मस्तिष्क तक पहुँचे। वहाँ अर्थ लगाने (interpretation) का काम चलता है। जो हमने शिक्षण द्वारा सीखा हो, माता-पिता ने सिखाया हो, अनजाने-अनचाहे (Unconsciously, Unintentionally) वातावरण में से सोख लिया गया हो,—इन सबके सहारे अर्थ लगाया जाता है। यहाँ फिर से मर्यादा आ गई। खैर, इतने लम्बे रास्ते में से गुज़रने के बाद कहीं प्रतिक्रिया हुई।

प्रतिक्रिया के लिये भी तो हम स्वतन्त्र नहीं हैं। प्रतिक्रिया की पद्धतियाँ हमें सिखाई गई हैं--विधिशास्त्र द्वारा, धर्मग्रन्थों द्वारा, शासन-पद्धति द्वारा। प्रतिक्रियाओं की भी तो पद्धतियाँ हैं--एक समाज से दूसरे समाज तक जाकर देख लीजिये। इस खण्ड-प्राय भारतवर्ष में ही घूम लीजिये। ऐसी स्थिति में भी अपनी प्रतिक्रिया पर इतना भरोसा कि उसके भरोसे दूसरों के कर्मों का निर्णय कर लेते हैं, उन्हें भला या बुरा कहते हैं। हमारी पसन्दगी, नापसन्दगी, राज़ी होना या नाराज़ होना सभी तो उस प्रतिक्रिया पर निर्भर है जो इतने संस्कार-विकार-मर्यादाओं से घिरे रास्ते से गुजरने पर घटित हुई है।

मन की मर्यादा

इस प्रकार देखने में आता है कि मन का जीवन के साथ जो सम्बन्ध है वह कितनी मर्यादाओं में से छन कर आता है, और मनुष्य अपने मूल्यों को, अपनी अभिरुचियों, वितृष्णाओं को लेकर चलता है, और प्रतिपल दूसरों पर अपने निर्णय, अपनी मान्यतायें थोपता रहता है—पदार्थों पर, विचारों पर, व्यक्तियों पर। मन के पास काम करने की यह एक पद्धति है। बाहर इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध में से संवेदन जागृत न होता हो तो स्मृति के साथ खेलना मनुष्य ने खूब सीखा है। ग्रहण करके धारण करने की जो धृति व स्मृति शक्ति विकसित हुई है उसका जितना उपमर्द होता है, उसके साथ जितना खिलवाड़ होता है, उतना शायद ही किसी और शक्ति के साथ होता होगा। कोई काम नहीं है तो पिछली स्मृतियों के साथ खेलेंगे। स्मृति का रोमन्थ (जुगाली) करेंगे। उसमें से संवेदनों को जाग्रत् करेंगे। इसे कहेंगे जीना।

हमें जीना नहीं आता

हमेशा किसी न किसी प्रकार के तनाव या दबाव में जीने वाले इस मन की सतह पर रह कर ही मनुष्य ने अनेक प्रयोग किये। व्यष्टि और समष्टि के बीच संवाद साधने के प्रयास किये। जिन्हें लोग 'जड़' और चेतन कहते हैं, उनके बीच संवाद साधने के प्रयत्न किये। न जाने क्या-क्या किया सदियों से; लेकिन

जीवन की स्वस्थता, सन्तुलन और प्रसाद नहीं पा सके। आज देखिये न! हमारे परस्पर के सम्बन्धों में है क्या? विषाक्त नजरें हैं, स्वार्थ के तीखे बाण पड़े हैं और हम कहते हैं कि यह मनुष्य-स्वभाव है। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध उठता रहता है—रोज के सम्बन्धों में, परिवार में, पति-पत्नी के बीच, माता-पिता व सन्तान के बीच, भाई-भाई के बीच—क्षमा करें आप, हमें जीना आता नहीं।

नम्रता

इस तथ्य को पहचानेंगे तो एक नम्रता के आलोक से चित्त भर जायेगा। जब तक यही लगता है कि हम जीना जानते हैं, जब तक अपनी स्थिति, अशक्ति की पहचान नहीं है, तन्द्रा की पहचान नहीं है, तब तक जिज्ञासा कैसे हृदय में पैठ सकेगी? बन्धन क्या है इससे परिचय नहीं तो मुक्ति की चर्चा कैसी? बन्धन के परिचय में ही तो मुक्ति साँस लेती है। बन्धन के स्वरूप और कार्य को पहचानने में ही मुक्ति का सत्त्व है, उस के प्राण हैं। अपनी कमजोरियों और दोषों को पहचानने में ही शक्ति और सामर्थ्य का संचार है। इसलिये पहली आवश्यकता तो यह है कि जिस मन के द्वारा हम जी रहे हैं, और मान बैठे हैं कि यही एकमात्र द्वार है जिस में से हो कर भीतर-बाहर के जगत् के साथ सम्बन्ध हो सकता है; यह मन परिस्थिति का खण्डित दर्शन ही करा सकता है, अखण्ड के दर्शन मन नहीं करा सकता। यह जीवन को द्रष्टा और दृश्य में बाँट देता है, कर्त्ता व कर्म का भेद खड़ा करता है, सहजता का गला घोंट देता है। यह पहचानना होगा।

मन से परे जीवन

मन के द्वार में से जीवन का परिचय और सम्बन्ध स्थापित करने जायें तो सञ्चित ज्ञान और अनुभूतियों की हुकूमत मान कर चलना पड़ता है। दूसरा कोई साधन नहीं है मन के पास काम करने का। आप से यह अनुरोध करने आई हूँ कि जैसे तन हमारा एक उपकरण है, वैसे ही मन भी एक उपकरण, एक यन्त्र ही है। मन की, संस्कार-विकारों की गुलामी में रहना हमारे लिये अनिवार्य नहीं। मन से परे भी जीवन है, चेतना है, एक नया आयाम है जिसमें

जाया जा सकता है और जिया जा सकता है। शायद वहाँ चल कर मानव अपने-आप को पहचानेगा और जिन को मानवीय सम्बन्ध कहते हैं वे निर्मित हो सकेंगे। मन और बुद्धि जब तक वस्तुओं की एक दूसरे के साथ तुलना न करें, विवेचन व चयन न करें तब तक ज्ञान या बोध नहीं कराते। इन के द्वारा ज्ञान के उत्पन्न होने में ज्ञात का आधार पकड़ना अनिवार्य हो जाता है, और उस ज्ञात के जितने अर्थ होंगे, अर्थ लगाने की जितनी पद्धतियाँ होंगी उतनी ही प्रतिक्रियायें होंगी। अस्तु, आगे बढ़ें।

मन से परे भी चेतना है यह मानने के लिये कोई आधार है ? या यह एक कल्पना ही है कुछ पागलों की, रहस्यवादियों की, या आप के व मेरे प्रत्यक्ष अनुभव की भी बात है ? साधारण-सा उदाहरण देती हूँ कि गाढ़ी नींद में आप सो जाते हैं तो एक अनोखे आनन्द व ताज़गी से भर जाते हैं और सुबह उठने पर कहते हैं कि बड़ी सुन्दर निद्रा थी। वह कौन था जो जाग रहा था आप की सुषुप्ति में भी ? और भी देखिये—प्रेम की अवस्था में (भले ही पलभर के लिये ही हो, मैं समझती हूँ हर-एक मानव एकाध बार तो प्रेम की अवस्था में जाता ही होगा)—सराबोर रहने की दशा में, रोम-रोम से प्रेम छलकने की स्थिति में—मन काम करता है? कोई हेतु, कोई प्रयोजन, कोई कर्त्ता व कर्म, या द्रष्टा व दृश्य रहते हैं? वहाँ तो ये सब मिट जाते हैं न! न जाने कहाँ लोप हो जाता है इन सब उपाधियों का, और जीवन-धारा बहती है केवल। घटित होती रहती हैं घटनायें लेकिन कर्त्ता कोई नहीं वहाँ। यदि आप का 'अहं'—जागृत चेतना का केन्द्र—ही सब कुछ होता, इससे नितान्त पृथक् कोई दूसरी सत्ता न होती तो उक्त प्रेम की दशा में जो जीवन घटित होता है वह कैसे सम्भव होता ? अतः इन सब उपाधियों के लोप होने के बाद भी कुछ शेष रह जाता है। इस तरफ़ हमने ध्यान नहीं दिया है, नहीं तो प्रतिदिन अनुभव हो सकता है अगर जागृति में जियें तो। तन्द्रा या बेहोशी में बहते चले जायें, दिनों के पीछे रातों को घसीटते ले जायें तो बात अलग है। यह तो शवयात्रा है, जीवन नहीं। लेकिन जिसकी शिव-यात्रा हो वह सुबह आँख खोलते ही निर्दोष नन्हे बालक की तरह सरल भाव से देखे कि

इस दिन की मुट्ठी में भगवान् ने क्या भेजा है ? हर क्षण के साथ उसका चिर नूतन संबन्ध होगा ।

प्रतीक

एक बात और, जिन प्रतीकों के सहारे हम दिन रात व्यवहार किया करते हैं वे क्या हैं ? इसे क्या हम कभी सोचते हैं ? हजारों वर्ष पहले मनमाने ढंग से कुछ प्रतीक तय हुए, जैसे कि संख्या का वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ा गया । वे प्रतीक अब पुराने हो चुके हैं, जमाना बदल रहा है । विज्ञान तो ऐसी चुनौती पेश कर रहा है कि मनुष्यों को एक दूसरे के साथ बोलने के लिये भी नये प्रतीक बनाने होंगे । आप ने देखा होगा कि जो चाँद पर गये उन लोगों के परस्पर बोलने की संकेत-भाषा (code-language) है; वैद्युत-मस्तिष्क (electronic brain), या कम्प्यूटर का भी संकेत-भाषा है । उन्हें हमारे टाइपिस्ट या स्टेनो नहीं समझ पाते । एक ऐसी सीमा पर आ कर खड़ी हो गई है मानवजाति कि जिस प्रकार ये पुराने मूल्य व विचार-धारायें छूटती जा रही हैं, वैसे ही पुराने प्रतीक भी छूटने वाले हैं । नये प्रतीकों के जन्म की वेदना मैं देख रही हूँ मानव की चेतना में । यह कोई काव्य नहीं । जीवन स्वयं ही कविता हो तो मैं क्या करूँ ? उसके याथातथ्य वर्णन में ही शायद महाकाव्यों का जन्म होता होगा, यदि अपनी अहन्ता से उसको शृंगारित करने का अपराध न कर बैठें तो ।

मौन या समाधि

मन की समस्त क्रियायें शान्त होने पर चेतना का एक नया आयाम जाग उठता है जिसको कह सकते हैं मौन या समाधि । हठयोगियों के अर्थ वाली समाधि नहीं कह रही हूँ । उन सविकल्प-निर्विकल्प, सबीज-निर्बीज समाधियों की बात भी मैं नहीं कर रही हूं । जिस 'सहज समाधि' की बात अभी (कबीर के भजन में) सुनी वही कह रही हूँ । वह नया आयाम जाग उठना कोई कवियों का वर्णन नहीं है । आप ने देखा होगा अपने भीतर विचार का जन्म होते हुए । और फिर विचार जब शब्दों के परिधान पहन लेता है, नाद धारण करता है, फ़िर वैखरी तक आता है—वह यात्रा किसी ने देखी है उसकी ?

जब भी विचार, भावना या वृत्ति की तरङ्ग आप के भीतर उठती है तब शक्ति खर्च होती है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक विचार करते समय शक्ति खर्च होती है। व्यक्ति उतना ही स्वस्थ होता है जितना उसके दो विचारों के बीच का समय अधिक रहता है। विचारों, भावनाओं में हमारी ऊर्जा बिखर जाती है। और यदि विरोधी दिशाओं में दौड़ने वाले विचार एक साथ दिमाग़ में कोलाहल करते हों, इनका यदि कोलाहल हो, तब तो उस मनुष्य के मस्तिष्क की दुर्गति का पार नहीं, इतनी अधिक शक्ति खर्च होती है! दस मील चल कर आने वाला व्यक्ति नहीं थकेगा, लेकिन कमरे में बैठ कर चिन्ता में डूबने वाले व्यक्ति को देखिए! जब मन की सब क्रियायें शान्त हो जाती हैं, तब यह बिखरी हुई शक्ति वापिस आती है अपने केन्द्रस्थान में। जिस शक्ति के साथ हमारा सन्बन्ध केवल एक खण्ड में था, अंश में था, उस शक्ति को अपनी समग्रता में रहने का अवसर मिलता है। ऊर्जा की समग्रता का उपस्थित होना, उपलब्ध होना अपने आप में एक बड़ी घटना है। नाभिकुण्ड में वह शक्ति, वह ऊर्जा अपनी समग्रता में रहती है। उसके उपस्थित होने में अनन्त गति है। गति का अवरोध खण्डित होने में है। समग्रता स्वयमेव गति है।

गति और अन्तर

गति व अन्तर सापेक्ष हैं। यहाँ से कलकत्ता बैलगाड़ी से जायें आप, तो देश काल की दूरी या अन्तर एक होगा। मोटर, रेल या हवाई जहाज से जायें तो उसी दूरी का समय के साथ अनुसन्धान बदल जायेगा। बनारस व कलकत्ता तो वहीं रहेंगे; उनके बीच के अन्तर का जो सम्बन्ध देश व काल की दृष्टि से लगाया वह कैसे बदलता है इसे देखिए। इसी प्रकार खण्डों में अवरुद्ध गति समग्रता में आकर अनन्त-गुना काम कर सकती है। उसको उत्कटता कह सकते हैं।

जीवन की गति

हमारा परिचय जीवन की गति से है नहीं, भावना के आवेगों से है, और हमारे जो प्रयोजन व हेतु होते हैं, जिन पर आरूढ़ होकर हम कर्म करते हैं,

उनकी गति हम जानते हैं। या फिर वासना या भावना के उद्दाम आवेगों से हमारा परिचय है। किन्तु न वासना जीवन की गति से परिचय कराती है, न विचार। जीवन की गति तो कहीं और है। मन को क्रियायें शान्त होने के बाद समग्रता में निहित जीवन की गति प्रकट होने लगती है। एक ही वृक्ष है, उसे आप-हम देखते हैं और समग्रता में प्रतिष्ठित व्यक्ति की चेतना देखती है—वृक्ष भिन्न हो जाता है। आप और हम उसका तना देखेंगे, शाखायें देखेंगे, अधिक से अधिक फूल व फल देखेंगे। लेकिन उस व्यक्ति को तो उसकी जड़ों का पञ्चमहाभूतों के साथ सम्बन्ध भी दिख रहा है। और वही पञ्चमहाभूत अपने शरीर में जो काम कर रहे हैं उनकी संवादिता ही नहीं, एकता का प्रत्यय उसके एक दृष्टिक्षेप में जी उठता है।

एकता

कैसे कहूँ कि यह एकता को जीना धर्म का मर्म है, और यह मानव को करना पड़ेगा। विज्ञान उसको बाह्य एकता की ओर घसीटता ले ही जा रहा है। आप देख ही रहे हैं कि पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में विज्ञान कहाँ ले आया है! सारी मानव जाति को एक परिवार के रूप में बदल दिया है। कोई राष्ट्र एक दूसरे के बिना जी नहीं सकता। छोटा सा घाना हो, नाइजीरिया या कीनिया हो, या छोटा सा वियतनाम हो। अमेरिका व चीन के जीवन के लिए, उनकी दुनियाँ में प्रतिष्ठा के लिए, इन सबके सम्बन्ध भी उतने ही महत्त्व के हैं जितने कि चीन व अमेरिका के आपसी सम्बन्ध हैं। विज्ञान ने एक ऐसा अजीब सन्दर्भ निर्माण कर दिया है।

सन्दर्भ का यही आमूल परिवर्तन भीतर भी आ जाय और एकता में जीना मनुष्य सीख ले तो फिर विज्ञान अज्ञान के हाथ में नहीं जायेगा, आत्म-बोध के हाथ में जायेगा। अज्ञान के हाथ पड़ कर विज्ञान बेकार बदनाम हो रहा है, हिंसा का साधन बन रहा है। लेकिन फिर वही एक अमृतमय जीवन पैदा करने वाला, ग़रीबी-अमीरी मिटा कर मनुष्य को सभ्य-सुसंस्कृत मानव बनाने के सभी साधन जुटा देने वाला एक मित्र होगा। शत्रु हो या मित्र हो, उससे पीछे

हम नहीं हट सकते । विज्ञान को शत्रु या मित्र बनाना तो हमारे हाथों की बात है । इसीलिए मैंने कहा कि संघर्ष चेतना में है ।

ऊर्जा की समग्रता

मन के मौन में चेतना के नये आयाम का जन्म है, जहाँ ऊर्जा अपनी समग्रता में उपस्थित रहती है। तब जब आप नज़र फेंकते हैं कहीं, तो वह दृष्टि आप के हेतु की, प्रयोजन की, स्वार्थ या प्रभुत्व की लालसा की नहीं होती, वह समदृष्टि होती है, जिसकी सुषमा को लोग प्रेम कहा करते हैं, जिसके सौरभ को अहिंसा कहा करते हैं । जब वह व्यवहार में चरितार्थ होती है तब उसको बन्धुता कहा करते हैं । वहाँ गये बिना अब चारा नहीं । चेतना के इस नये आयाम में जैसे दर्शन बदल जाता है, वैसे प्रतिसाद भी बदल जाते हैं । प्रतिक्रिया की फिर जरूरत नहीं रहती, प्रतिसाद जाग उठते हैं ।

[लेकिन यहाँ अब मुझे विषय समेट लेना चाहिये । इतनी शान्ति व प्रेम से आप सब लोग सुनते गये कि जो कुछ गूढ़तम भाव हृदय में पड़े थे बटोर कर आपके सामने रख दिये । महाराष्ट्र के महान् सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं कि श्रोता के बिना वक्ता हो नहीं सकता ।]

विद्रोह और क्रान्ति

अस्तु, हमने प्रारम्भ यहाँ से किया था कि संसार में आज जो उथल-पुथल है, बेचैनी-असन्तोष है यह दिव्य है । ये तूफ़ान और आँधी बड़े आशासूचक हैं । क्योंकि मूल्य ढहते जा रहे हैं, जीवन-पद्धतियों का लोप हो रहा है, नये सर्जन की माँग है । ये सभी देशों के युवक-युवतियाँ केवल विद्रोह में कब तक आनन्द पायेंगे ? हैं तो आखिर अमृत की सन्तान । जायेंगे कहाँ ? विद्रोह से क्रान्ति तक का फ़ासला रह गया है जो इन्हें काटना है । वे काटेंगे, जब उन्हें पता चलेगा कि विद्रोह से केवल बाह्य परिवर्तन होगा और बाह्य परिवर्तन से यह अनिवार्य नहीं है कि आन्तर परिवर्तन भी हो। नहीं तो 'साम्यवादी देशों की सांस्कृतिक समस्याओं' पर किताबें नहीं लिखनी पड़तीं। नहीं तो उत्पादन के प्रेरणास्रोत (Incentive of Production) के लिए हमारे जितांस साहब को युगोस्लाविया

में बोलना नहीं पड़ता । 'न्यू क्लास' नाम को किताव न लिखनी पड़ती कि भाई, श्रेणो-रहित समाज वनाने गये तो हमने अफ़सरशाही की एक नई श्रेणी खड़ी कर दी । वाह्य परिवर्तन का निषेध नहीं करती; किन्तु वाह्य परिवर्तन एक प्रति-विम्व हो सकता है आन्तर परिवर्तन का । मानवीय सम्वन्धों को वदलने का स्थान है आपका व मेरा हृदय, आपकी व मेरी चेतना । इसलिए विद्रोह से क्रांति तक जाने का जो युग है उसका उष:काल देख रही हूं ।

अमेरिका में स्त्री-मुक्ति आन्दोलन

दिसम्वर में मैं कैलिफोर्निया में थी । वहाँ 'विमेन्स लिवरेशन मूवमेण्ट' (स्त्री-मुक्ति आन्दोलन) है अमेरिका की । उन्होंने वर्कले विश्वविद्यालय में मुझे निमन्त्रित किया । तव मैंने कहा कि अमेरिका में भी 'स्त्रियाँ' हैं यह मुझे मालूम नहीं था । यहाँ तो पुरुषों की अनुकृतियाँ मैं देख रही हूँ । जव से आई हूँ स्त्रियों का तो कोई पता नहीं चला । किन्तु आप लोग मुक्ति आन्दोलन चलाकर पुरुषों का जो मूल्यों का ढाँचा (value-structure) है, उसे पकड़ लेती हैं । फिर रोती हैं कि राजनीति में समान स्तर व स्थान नहीं मिलता, समान मान्यता नहीं, आर्थिक क्षेत्र में भी नहीं । किन्तु पुरुषों का ही मूल्यों का ढाँचा जहाँ तुमने स्वीकार कर लिया, वहाँ तुम्हारे इन पुरुष-विरोधी आन्दोलनों का कोई आधार नहीं रह जाता । जो अपने मातृत्व में लज्जा मानती हैं, जो सारा जीवन षोडशी रहना पसन्द करती हैं वे इस प्रकार के आन्दोलन करें ? मैंने कहा कि स्त्री है कहाँ ? उसे दिखाओ तो उसकी मुक्ति की वात करूँ । मैंने देखा कि इस पर वे नाराज़ तो काफ़ी हुईं । दस-पन्द्रह राज्यों से वहनें आई हुई थीं । वड़ी कॉन्फ्रेन्स थी । लेकिन डेढ़ दिन के भीतर एक ऐसा मन्थन वहाँ के विश्वविद्यालय की लड़कियों में आया कि हाँ, वात तो कुछ सही है ।

सनातन देश भारत

वही हाल अमेरिका के लड़के-लड़कियों का है । इन हिप्पी और वीटनिक्स की ओर जाने की ज़रूरत नहीं, वे तो सारी की सारो अमेरिकन जीवन-पद्धति की जड़ें उखाड़ने लगे हैं और उखाड़ कर रहेंगे । इस देश में भी आज वैसा

अवसर है। लेकिन योरोप, अमेरिका, जापान की काम करने की पद्धतियाँ यहाँ काम नहीं देंगी। यह सनातन देश है। यहाँ काम कुछ और ढंग से होता है। यह धर्म-प्राण, अध्यात्म-प्रवण देश भाषा समझेगा धर्म व अध्यात्म की, यदि ईमानदारी से धर्म व अध्यात्म जीने वाले व्यक्ति इसके सामने आयें।

इसीलिए चेतना की समग्र क्रान्ति की बात आज का० हि० वि० में रखने का अवसर मिला इससे उपकृत हूँ। वाइस चांसलर साहब और श्रद्धेय आचार्य द्विवेदीजी के बड़े उपकार हैं कि उन्होंने आपके और मेरे बीच यह अवसर उपस्थित कर दिया। मनके मौन की जो बात रखी गई वह अभी पूरी नहीं हुई। प्रभु के पास नितान्त विनम्र भाव से प्रार्थना है—"तव चरणे प्रणता वयमिति भावय हे, कुरु कुशलं प्रणतेषु।"

ध्यान शिविर १९७१, का श्रवण-मंगल

: १ :

दिनांक--१७-२-७१ समय--सायं ५।।

(क) उद्घाटन भाषण—श्री किशन सिंह चावड़ा

सभापति--डॉ० का० ला० श्रीमाली, उपकुलपति, का० हि० वि०

मेरा वड़ा सौभाग्य है कि आज इस शिविर में शामिल होने का अवसर मिला। विमला वहन के साथ चोरवाड़ (सौराष्ट्र में समुद्र-तट पर रमणीय स्थान) में पाँच दिन के एक ध्यान शिविर में मैं था। वहीं से सीधे यहाँ आना हुआ। वहाँ भी मित्रों के प्रेम के कारण उद्घाटन किया था। यहाँ भी वही हो रहा है। इसमें प्रभु का कुछ संकेत होगा। आज आपके अवधान के लिए दो-तीन वातें रखने की इच्छा है।

एक तो यह कि जब हम किसी विशिष्ट व्यक्ति को सुनने जाते हैं तो मन में पहले सुनी हुई, पढ़ी हुई वातों के साथ तुलना चलती रहती है। 'अमुक व्यक्ति की वात जैसा सुनने को मिला, अमुक की वात से मेल नहीं वैठा, अमुक ग्रन्थ जैसा वोला, अमुक जैसा नहीं वोला।' ऐसा एक अवोला विश्लेषण, विवेचन चलता रहता है, इसलिए पूर्ण श्रवण नहीं हो पाता। मन व्यस्त रहता है, इसलिए समग्रता में उपस्थित होकर श्रवण नहीं होता। पहले पढ़े-सुने शब्दों को छोड़ कर, जो शब्द सामने उपस्थित होते हैं, उन्हें समग्रता में पाएँ। काशी-वासियों से तो शब्द के वारे में क्या कहा जाए? यहाँ तो गंगा का अनाहत नाद निरन्तर आहत हो रहा है। फिर भी प्रार्थना है कि समग्रता में उपस्थित होकर समग्रता में से निकलने वाले शब्द को पाएँ।

जव-जव विमला वहन जैसी व्यक्तियों का हम समागम पाते हैं, तो एक वात का साक्षात्कार होता है कि शब्द ऐसे लोगों के लिए माध्यम है। शब्द के

सेतु, पर होकर वे हमारी श्रुति तक पहुँचते हैं। यह तो उनका संचारण या संप्रेषण (Communication) है; प्रवचन नहीं, वार्तालाप नहीं, शब्द के द्वारा अवतरण है। उसे सम्पूर्णता से धारण करें।

दूसरी बात यह है कि हम जिज्ञासा और कुतूहल का अन्तर समझें। कहीं धर्म या अध्यात्म की बात हो तो कुतूहल-वृत्ति से वहाँ जाने का मन होना एक बात है और जिज्ञासा का जागृत होना दूसरी बात है। कुतूहल में धारणा शक्ति नहीं होती, वह न शब्द को धारण कर सकता है, न अर्थ को या रहस्य को। कभी-कभी कुतूहल-वृत्ति से आगे बढ़ कर कुछ जानने की, कुछ पाने की इच्छा लेकर हम सुनने बैठते हैं। किन्तु हमारी समग्रता में इच्छा का प्रसार नहीं होता। इसलिए श्रुति सावधान हो कर सुन नहीं पाती। जिज्ञासा की अग्नि को प्रज्व-लित करके हम सुनें, तभी श्रवण हो पाएगा।

'द्रष्टा', 'सद्गुरु' इन शब्दों को भले ही छोड़ दें; (क्योंकि शब्द बहुत विचित्र रीति से करवटें बदल रहे हैं इसलिए इन शब्दों का प्रयोग करने में भी भय लगता है)। किन्तु किसी जीवित व्यक्ति के पास जब हम पहुँचते हैं तो स्वयं जीवित रह कर न सुनें तो समग्र आधार उसे धारण नहीं कर पाता। जिज्ञासा प्रज्वलित होने के बाद समग्र आधार में एक उन्मुखता, उन्मुक्तता आ जाती है। जिज्ञासा समग्र आधार में व्याप्त हो जाती है। उस आधार में जब शब्द का बीज पड़ता है तब वह ठीक से बोया जाता है। उसका वटवृक्ष भी बनता है। जीने वाले का शब्द जीवन में से आता है, इसलिए उसका मूल्य है। उसकी महिमा, उसकी शक्ति, उसके शील को हम धारण करें।

तीसरी बात यह है कि आजकल अध्यात्म के नाम पर कितनी ही बातें चल रही हैं; उनमें से एक है महाकुण्डलिनी योग की बात। लोगों की कुण्डलिनी जगाने में आजकल आध्यात्मिक नेता व्यस्त हैं, शक्तिपात से कुण्डलिनी को जगाना चाहते हैं। लेकिन शक्तिपात तो सबको होता नहीं। कहीं कुछ अग्नि प्रज्वलित हो उठी तो धारणाशक्ति मन्द होने के कारण सारा आधार कुछ और ही स्वरूप ले लेता है। कुंडलिनी-जागृति के नाम पर बड़ा अधर्म चल रहा है, हिंसा चल

रही है। कुछ लोग पैसे लूट रहे हैं, कीर्ति कमा रहे हैं और व्यक्तियों का सत्यानाश हो रहा है। ऐसे लोग जीवन के अपराधी हैं और जीवन उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगा। जीवन असत्य को कभी क्षमा नहीं करता।

जीते-जीते जब हम जीने लगते हैं, मन प्राण-शरीर से नहीं, समग्रता से जब कोई कर्म होता है और हम जिन्दा हो उठते हैं तब ऐसा लगता है कि भीतर कोई अग्नि जल उठी है; समग्र आधार विशेष अवस्था धारण कर लेता है। जिज्ञासा इतनी सौन्दर्यशालिनी, ऐश्वर्यशालिनी, शक्ति-शालिनी, शीलशालिनी है कि समग्रता में जब वह उपस्थित होती है तो मनुष्य के समग्र जीवन में, आधार में तब ऐसी घटना घटित होती है कि समग्र जीवन जाग उठता है। जीवन अपने-आप बोल उठता है। साथ ही महाशक्ति भी जागती है और वह बड़े धीरज से, प्रेम से, वेग से कार्य करने लगती है।

जीवन को पाने वालों के लिए जिज्ञासा बहुत बड़ी शक्ति है। जहाँ जिज्ञासा पूरी शक्ति से जागृत हुई है वहाँ महाशक्ति भी स्वाभाविकता से जागृत हो जाती है। व्यक्ति को पता भी नहीं लगता कि क्या हुआ और जीवन प्रफुल्लित, प्लावित हो उठता है।

चार दिन तक एक जीवन्त व्यक्ति को हम शब्द के सेतु के द्वारा अपने भीतर पाएँगे। उनके द्वारा जीवन के आविर्भाव को पाकर धन्य होंगे। ध्यान शिविर में ध्यानावस्थित होकर हम शब्द को अन्दर उतारें।

●

(ख) प्रथम प्रवचन

प्रभु की असीम कृपा से फिर एक बार आप लोगों के बीच आना हुआ। यहाँ चार दिन तक सत्संग चलेगा। साथ बैठेंगे। कुछ बातें शब्दों की मारफ़त होंगी, कुछ उपस्थिति की मारफ़त घटित होंगी, कुछ प्रभु-कृपा से स्वयं उद्घाटित होंगी। स्नेहियों के मिलन में यही हुआ करता है।

शिविर और आत्म-संवाद

संसार के दूसरे देशों में पिछले ५–६ वर्षों से ध्यान शिविर होते रहे हैं। भारत में यह पहला विश्वविद्यालय है जिसमें इस प्रकार का उपक्रम हुआ है। प्रसन्न हूँ कि संख्या थोड़ी है। संख्या जीवन का एक आयाम है। संख्या वक्ता और श्रोता के बीच संबन्ध का स्वरूप निर्धारित करती है। बड़ी संख्या हो तो संख्या के कारण ही वक्ता और श्रोता में अनुप्रस्थ और अनुलम्ब (Horizontal and Vertical) अन्तर आ जाता है। निकटता का वातावरण उपलब्ध नहीं हो पाता, संवाद नहीं हो पाता। निरूपण, प्रतिपादन करना पड़ता है। और अध्यात्म में इनका अवकाश नहीं। दर्शन की बात में, शास्त्रों की बात में निरूपण-पतिपादन अनिवार्य होता है। लेकिन यह कोई दार्शनिकों की सभा नहीं। यहाँ धर्म-चर्चा नहीं होगी। यह तो आत्म-संवाद है जीवन के विषय में।

जन्म और जीवन

अध्यात्म है जीने की कला और जीना एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। जन्म मिला तो जीने का अवसर मिला। जन्म और मृत्यु—इन दो बिन्दुओं के बीच में जो अवस्था उपलब्ध है उसमें चाहें तो जी लीजिए और चाहें तो बह लीजिए। रुचि का प्रश्न है। जन्म प्राप्त होना जीना है, यह भ्रम टूट जाना चाहिए। जन्म हुआ, शरीर मिला, मन मिला। शरीर संस्कारित हुआ, बुद्धि भी संस्कारित हुई।

लेकिन संस्कारित काया का व्यवहार या संस्कारित मन का व्यापार जीवन का आशय नहीं, जीवन की गति नहीं। जीवन इन्द्रियों के विकारों या आवेगों पर आरूढ़ होकर नहीं चलता है। न वह विचारों के आवेश और अभिनिवेश पर सवार होकर चलता है। जीवन एक स्वयम्भू गति है। उस गति को पहचानना और उसमें शामिल होकर, उसे प्राप्त करके नहीं, उसमें विसर्जित होकर नहीं, उसमें शामिल होकर—चलना बड़ा पुरुषार्थ का काम है।

जीवन से परिचय

दृष्टि को निर्मल बनाने के लिए पहले आप और हम यह समझ लें कि हमारा जीवन से परिचय नहीं है। जन्म की घटना से है, वह भी परोक्ष। दूसरों के जन्म देख कर अपने जन्म का हम अनुमान किया करते हैं। स्वायत्त अनुभूति हमें नहीं है। जन्म-मृत्यु को देखने वाले विरल हैं। उन्हें देखा जा सकता है, लेकिन वह भिन्न विषय है। मृत्यु के विषय में भी वेहोशी या तन्द्रा की अवस्था में से हमारा गुज़र जाना होता है। उसे देखना और जागृतिपूर्वक उस में से गुज़र जाना नहीं होता। जन्म पाना जी लेना नहीं है। जन्म से मृत्यु तक घिसटते चले जाना जीवन नहीं है। वाह्य आवेगों, विकारों के कारण घिसटते चले जाना जीवन नहीं है।

भ्रमो का टूटना

भ्रमों का टूटना वोध का प्रारंभ है। पहले यह भ्रम टूट जाए कि हमें जीना मालूम है। भ्रान्तियों के जाल जब टूटते हैं तब कष्ट होता है, क्योंकि उन्हें हम ने पाल-पोस कर रखा होता है। कोई कह दे कि जीना मालूम नहीं तो ठेस पहुँचती है। पहली वात यह है कि अध्यात्म है दृष्टि को निर्भ्रान्त, चित्त को निश्चिन्त और शरीर को निरामय बनाना। ये तीनों हों तभी संवाद आगे चलेगा।

कुतूहल और जिज्ञासा

कुतूहल बुद्धि का धर्म है। जिज्ञासा भिन्न वस्तु है। कुतूहल में जानने की इच्छा रहती है। कुछ आगे वढ़े तो जानकारी प्राप्त करने की, कुछ कमाने की

अभिलाषा रहती है। अध्यात्म में जानने को कुछ नहीं, पाने को भी कुछ नहीं। अनुभूति को पाना मन के क्षेत्र की लीला है। मन यानी चेतन, अचेतन, अवचेतन मन। अनुभूति घटित होती है मन के क्षेत्र में। अतीन्द्रिय अनुभूति से अनोखा आनन्द, सुख का स्पन्दन होता है। इन अतीन्द्रिय सुखों की खोज में मानव भटक रहा है, यहाँ से अधिक पश्चिम में।

जानने की इच्छा से दर्शनशास्त्र का जन्म हुआ, पाने की इच्छा से योग-तन्त्रादि विज्ञान खिले। मानव जीवन पर खिले हुए पुष्प हैं ये। लेकिन अनुभूति को पाना अध्यात्म नहीं है, जीवन की समग्रता उस में नहीं है।

जानने या प्राप्त करने के लिए द्वैत चाहिए, द्वन्द्व चाहिए। मैं हूँ, और मैं जानूँगा। जानने की कोई पद्धति या प्रक्रिया है। उस का विनियोग मैं करूँगा, उस में समय लगाऊँगा"।

समय (Time) अपने साथ अवकाश (Space) को ले ही आता है क्योंकि समय और अवकाश एक ही तत्त्व के दो नाम हैं, दो अंग है। जानने की जहाँ इच्छा हुई वहाँ जीवन विभाजित हुआ। "मैं यहाँ हूँ, जीवन मुझ से बाहर है, उसे मैं जानूँगा, ज़ानने की कला हासिल करूँगा।" इस प्रकार की जटिलता कुतूहल पैदा कर लेता है।

प्राप्ति और उपलब्धि

जहाँ प्राप्त करने की इच्छा हुई, फिर वह भौतिक सुख हो या अतीन्द्रिय अनुभूति हो, वहाँ द्वैत है, द्वंन्द्व है, तनाव है। "अनुभूति का संग्रह करूँगा; विचार या सिद्धान्त का नहीं, तत्त्वज्ञान का नहीं, भीतर का ऐश्वर्य बढ़ाऊँगा"—इसी में द्वन्द्व है, तनाव है, तनाव के विना पाना ही नहीं होता। प्राप्ति है 'अप्राप्तस्य प्रापणम्'—जो प्राप्त नहीं उसे प्राप्त करना। और अध्यात्म उपलब्धि का विषय है, प्राप्ति का नहीं। उपलब्धि होती है, प्राप्ति की जाती है। प्राप्ति करने वाले को भान है 'मैं प्राप्त कर रहा हूँ'। उपलब्धि एक घटना है।

व्यक्ति के हाड़-माँस में पड़ी चेतना की रश्मि का जब हाड़मांस के बाहर निरन्तर उपलब्ध विश्व-चेतना के साथ संयोग हो जाता है तो उस में से उपलब्धि

घटित होती है। यह मनुष्य के पुरुषार्थ का विषय नहीं है। उपलब्धि का संग्रह नहीं हो सकता, अनुभूतियों का, विचारों का संग्रह होता है।

उपलब्धि में कोई इकाई जीवन से अलग नहीं पड़ी है। उपलब्धि समग्रता की अवस्था में होती है। मनुष्य उन्मुखता की अवस्था में रहे यानी असीम संवेदनशीलता के साथ उन्मुख हो जीवन के प्रति। तब जीवन के साथ संयोग यानी जीवन की उपस्थिति और व्यक्ति की उन्मुखता का मिलन होने में उपलब्धि घटित होती है। उस मिलन की निपज है उपलब्धि, एक मधुर संगीत है।

संबन्ध में बन्धन है। संबन्ध का निर्माण ज्ञान से या भाव से किया जाता है—योग या तन्त्र में। वहाँ बन्धन है। वहाँ द्वैत निहित है। एकता के प्रत्यय में भी द्वैत घुलमिल जाता है जैसे जल में नमक या शर्करा। जीवन जीना उपलब्धि का विषय है, अध्यात्म उपलब्धि का विषय है।

दृष्टि की निर्मलता

पहले दृष्टि को निर्मल बनाना होगा। जब दृष्टि निभ्रन्ति होगी और चित्त स्वस्थ होगा, तो वहाँ अभिलाषा, आकांक्षा, वासना, महत्त्वाकांक्षा के बादल नहीं उठेंगे। सत्संग में जाते किस लिए हैं? "बाहर का तो सब प्राप्त कर लिया, अब चलें भीतर का प्राप्त करें। अनुभूतियाँ मिलेंगी, अतीन्द्रिय शक्तियाँ खिलेंगी। आज देहभाव है, कल ब्रह्मभाव धारण करूँगा, साक्षित्व धारण करूँगा।" बड़ी अटपटी बातें हैं। लेकिन ऐसी मुक्ति और निर्वाण बन्धन से भी अधिक बाँधते हैं। साक्षित्व का भाव जिसे धारण करना पड़ता हो, उसे अत्यन्त सूक्ष्म स्तर पर अहंकार का ही भाव धारण करना पड़ता है। मुक्ति का भान भी तो बन्धन है। लोहे की जंजीर न सही, रेशम का मुलायम धागा है जो दिखे न दिखे, अव्यक्त-सा लगे, लेकिन है सही और पाश ही है।

तो, यहाँ निभ्रन्ति दृष्टि के साथ-साथ कहीं गन्तव्य नहीं, कुछ प्राप्तव्य नहीं, कुछ कर्तव्य नहीं—इसका बोध होगा तो चित्त अनायास शान्त होगा। वृत्ति-निरोध उपलब्ध होगा।

दमन-पीड़न का पथ हो या उदात्तीकरण (Sublimation) का हो, बात

एक ही हैं। उदात्तीकरण भी निग्रह का ही प्रकारान्तर है। सहजता के बिना जो कुछ है अशुचि, अमंगल, अभद्र, असुन्दर है।

चित्त की अक्षुब्धावस्था

कोई प्राप्तव्य नहीं, गन्तव्य नहीं, कर्तव्य नहीं—इस बोध के साथ एक निःस्पन्द, निस्तरंग अवस्था चित्त में जागृत होगी। वह एक रासायनिक अवस्था हैं। दृष्टि के निर्भ्रान्त होने पर व्यक्ति को एक अक्षुब्धावस्था प्राप्त होती है जहाँ तरंग नहीं, स्पन्दन नहीं।

विचार, संस्कार, स्मृति—सब के स्पन्दन उठते रहते हैं। हमारे श्वासोच्छ्वास के साथ, रुधिराभिसरण के साथ, समग्रता के साथ ये स्पन्दन क्या घटित करते हैं? क्षोभ पैदा करते हैं। मस्तिष्क में स्पन्दनों का जागरण, उनका संचार होने पर हमारी समग्रता में क्या होता है? विकृति कहूँ तो क्षमा करें। जब तक भीतर विचार, विकार, स्मृति, अनुभूति के स्पन्दन उठते रहते हैं, तब तक जीवन से सीधा स्पर्श या संयोग घटित नहीं होता। उपलब्धि घटित नहीं हो सकती।

चित्त का स्वस्थ होना है उसकी निष्कम्प, निःस्पन्द अवस्था होना। सारे शरीर की जो रासायनिक अवस्था होगी उसमें अक्षुब्धता रहेगी। एक सर्वथा भिन्न अवस्था जागृत होगी। यहाँ तक मनुष्य जा सकता है। यहाँ तक अपने आपको ले गया तो आगे कुछ करना नहीं पड़ता, स्वयं घटित होगा। ध्यानावस्था का प्रारंभ होगा।

ध्यान के नाम से जीवन के जिस आयाम का गत वर्ष यहाँ उल्लेख किया गया था, उसी को आगे ले चलना है। उस अवस्था में क्या-क्या मनुष्य के साथ घटित होता है, यह देखना है। ध्यान कोई शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक क्रिया नहीं, प्रक्रिया नहीं, कोई अनुभूति नहीं, समग्रता की एक अवस्था है। इस बात को ज़रूर हम लोग देख लें।

पश्चिम में योगसूत्रों का दोहन

पता नहीं आप लोगों ने हाल ही में प्रकाशित ग्रन्थ—"Psychic Research Behind the Iron Curtain" देखा है या नहीं। उस में बल्गेरिया के

Research Institute for Suggestology And Suggestopaedia नामक संस्था का उल्लेख है। उस संस्था में शिक्षण की गति पचासगुना बढ़ा दी गई है। वैज्ञानिक दृष्टि से योग-प्रक्रिया पर वहाँ शोध हो रहा है। उस शोध का आधार योगसूत्र हैं। पश्चिम के विभिन्न देशों में आज योगसूत्रों का जितना दोहन चल रहा है, उसका थोड़ा-सा विवरण भी यहाँ सुनाया जाए तो आप अवाक् रह जाएँगे।

उक्त संस्था में भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित, भाषाएँ—इत्यादि सभी विषय पढ़ाए जाते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों से विद्यार्थी लिए जाते हैं। उनके मानसिक विकास अथवा आयु के विषय में भी समता की चिन्ता नहीं की जाती। एक कक्ष में सबको आराम से बैठाया जाता है। मन्द प्रकाश रहता है, शान्त वातावरण रहता है। पश्चिम के 'क्लासिकल' संगीत के रिकॉर्ड मन्द मधुर ध्वनि में बजते रहते हैं। वहाँ शिक्षक पढ़ाता है। विद्यार्थियों से कहा जाता है—"सीखो नहीं, बुद्धि को लड़ाओ नहीं, तर्क और अनुमान की रस्सी को पकड़ कर चढ़ो नहीं। कुछ प्राप्त करने नहीं आए हो। विश्राम करो। कुछ करना नहीं है।" विद्यार्थी बैठे हैं आँखें मूँद कर या खोल कर। शिक्षक पढ़ाता है दो घंटे तक। उनका कहना है कि संस्कारित मस्तिष्क (conditioned brain) से संबन्ध स्थापित किये बिना उसके पार विद्यार्थी से संपर्क किया जाता है। मन, बुद्धि में संस्कारों का जो समुच्चय पड़ा है उसे छोड़ देते हैं।

[द्वन्द्व और द्वैत में जन्मे शब्दों को लेकर जब निर्द्वन्द्व में प्रवास करना होता है तो बड़ी मुश्किल होती है। मौन को छोड़ कर भाषा नहीं और वह भी अधूरा पड़ता है।]

चेतना का ऐसा कोई हिस्सा पड़ा है जो संस्कारित नहीं। उसके साथ वे संपर्क करते हैं। परीक्षा करने पर बड़े उत्साहवर्धक परिणाम आए हैं। दो वर्ष का 'कोर्स' तीन या चार सप्ताह में पूरा करते हैं। उनका कहना है कि ६ वर्ष की आयु से शुरू करके १६ वर्ष की आयु तक स्नातकोत्तर शिक्षण पूरा हो जाना चाहिए। आज शिक्षण में जिन्दगी का बड़ा हिस्सा बीत जाता है; इसे वे घटाना

चाहते हैं। अपरोक्ष (direct) शिक्षण वे नहीं देना चाहते। उसमें हिंसा है।

विश्वविद्यालय में प्राध्यापकों के साथ बैठ कर ध्यानावस्था के चेतना के आयाम की बात कोई धार्मिक, सांप्रदायिक इच्छा से नहीं, कोई प्रचार की इच्छा से नहीं कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि कुछ तो जिज्ञासु होंगे जिन्हें लगता होगा कि आज जो देश की हालत है, वह चल नहीं सकती।

समस्याओं का निराकरण

असन्तुलित, विकृत और भ्रान्तिपूर्ण चित्त लेकर कौन-सी समस्या हल होगी? किस छोर पर समस्या को पकड़ेंगे? राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक—कहाँ पकड़ेंगे? पकड़कने वाला है कौन? कहाँ से लाएँगे? समस्या के निराकरण के लिए जो मानव चाहिए वह है कहाँ?

समस्याओं के निराकरण का प्रयास पश्चिम में चला है। दो महायुद्ध हो गए। अपने यहाँ भी वैसा प्रयास चलाना हो तो सौ-डेढ़-सौ वर्ष भारत खोएगा। विचारों का, सिद्धान्तों का नशा पिलाकर समाज-रचना, अर्थ-रचना बदलने के वहुत प्रयास हुए। लेकिन समस्या सुलझती नहीं, निराकरण होता नहीं। समस्या को देखने वाला, सुलझाने वाला मानव खोया हुआ है। वह कहीं मिलता नहीं है।

जो आँधी और तूफ़ान आज चल रहा है उसमें मुट्ठी भर भी व्यक्ति शिक्षा-क्षेत्र में ऐसे हों जो पैर जमाए रहें, मूल्यों से उखड़ें नहीं, जीवन से भागें नहीं, जम कर खड़े रहें—तब तो समस्याओं के निराकरण की बात चले।

ध्यानावस्था शिक्षण-क्षेत्र का विषय

इसलिए ध्यानावस्था को बात आज की परिस्थिति में आवश्यक है। यह शिक्षा-क्षेत्र का विषय है। तन-मन से परिचय, मन से परे जीवन के आयाम की बात—यह सारा का सारा शिक्षा-क्षेत्र का विषय है। चाहती हूं कि इस बात को तज्ज्ञों (experts) के ध्यान में ला दूँ। मैं तो कोई शिक्षा-विद् हूँ नहीं। सामान्य-जन (layman) हूँ। जीवन में रस है। जीती चली जा रही हूँ। अन्य किसी बात से प्रेम नहीं। कहीं रुकने के लिए, ठिठकने के लिए समय

नहीं। लगता है कि कोई तो वात को पकड़ेगा। मुझसे अधिक समझदार व्यक्ति पकड़ लेगा।

जो परम्परा प्राप्त शिक्षण आज देश में चल रहा है उसने कुछ नहीं किया। लॉर्ड मॅकॉले-प्रणीत जो शिक्षण-पद्धति इस देश में चली है, उससे अब काम चलने वाला नहीं है। शिक्षण के आशय के बारे में पूरव की बातें न लीं, तो पश्चिम की ले लीं। उससे कुछ अन्तर पड़ने वाला नहीं है। यह सब हटाये बिना और अध्यात्म के अधिष्ठान पर शिक्षण के अभिनव संकेत लाए बिना आज तरणोपाय नहीं है।

सृष्टि के सूक्ष्म स्तरों पर प्रयोग

रूस की एक बहन ने 'जड़ पदार्थों के मन' के साथ मानव-मन संवाद कैसे कर सकता है, इसके प्रयोग करके दिखाए हैं। जड़ के साथ वह बात कर लेती हैं, उससे काम करा लेती हैं। मॉस्को में एक अन्तरराष्ट्रिय परिषद् में उन्होंने प्रयोग दिखाए हैं।

दूरसंवेदन (telepathy) पर प्रयोग चल रहे हैं। यह सबसे अधिक त्वरित गति से संदेश-प्रेषण का माध्यम है, ऐसा उन लोगों का कहना है। मानव के स्थूल शरीर के भीतर के पाँच शरीरों तक के फ़ोटो उन लोगों ने लिये हैं।

हमारे पास यह सब उपलब्ध था, लेकिन हमारे लोगों ने दूसरे छोर से बात को पकड़ा था। आज तो केवल नाम शेष है, शब्द शेष हैं।

जीवन का रहस्य समझने के लिए, जीवन जीने के लिए शरीर और मन के अतीत जाने की बहुत आवश्यकता है।

संवाद

यहाँ चार दिन तक संवाद होगा, प्रतिपादन या निरूपण नहीं। यहाँ कोई सिद्धान्त लेकर हम नहीं आए हैं। किसी का मत परिवर्तन करने या कोई बात मनवाने नहीं आए हैं। जितनी प्रांजलता से मैं उपस्थित रहूँगी, आशा है आप

भी उतनी ही प्रांजलता से उपस्थित रहेंगे। तो, यहाँ श्रवण होगा, दर्शन होगा, संवाद होगा।

सार शब्द की डोरी

कोई औपचारिक धन्यवाद मानने की आवश्यकता नहीं। अभी हमने एक अत्यन्त भावाभिव्यञ्जक और समर्पक भजन भैयाजी (पं० वलवन्तराय भट्ट) से सुना। 'सार शब्द की डोरी पकड़ कर हंसा पार' कैसे जा सकता हैं—श्रवण का मर्म मानो उन्होंने खोलकर रख दिया। भावप्रवणता से भीगा हुआ उनका भजन सदा वहुत आनन्द देता है। ऐसे ही 'सार शब्द की डोरी पकड़ कर' आप और हम दोनों चलेंगे चार दिन तक।

[डॉ. प्रेमलता शर्मा के असीम परिश्रम से हमें यह अवसर प्राप्त हुआ है। उनसे वहुत दिन से हमारा सख्य है। उनको 'जीवन' की उपलब्धि हो, जीवन का आनन्द उन्हें उपलब्ध हो यह शुभेच्छा उनके लिए है।]

•

: २ :

दिनांक—१८-२-७१ समय—प्रात: ९ बजे

(क) द्वितीय प्रवचन

जिसे शिविर कहा जा सके ऐसा तो यहाँ आयोजित नहीं हो पाया क्योंकि शिविर में सहजीवन के लिए साथ रहना होता है। सुबह से साँझ तक साथ रहते हैं तो सत्य को उद्घाटित होने का अवसर देते हैं।

प्रभु की आतुरता

सत्य की उपलब्धि मनुष्य के पुरुषार्थ का विषय नहीं है। उन्मुखता या जिज्ञासा हो तो सत्य स्वयमेव रहस्य खोलता है। जीवनरूपी परमात्मा, प्रभु हमसे अधिक आतुर है जिज्ञासा से मिलने के लिए।

संत ज्ञानेश्वर ने कहा है—

"अर्जुन आम्हा भक्तांचे व्यसन। भक्त आम्हांचे निरन्तर ध्यान। ते वल्लभ मी कान्ता जान अर्जुना।"

ज्ञानेश्वरी अ० १२

"हे अर्जुन ! मुझे एक ही व्यसन है और वह है भक्तों का। भक्तों का मुझे निरन्तर ध्यान रहता है। भक्त मेरे लिए वल्लभ हैं, मैं उनकी कान्ता हूँ।" इस बात को रूपक में उस बालक ने रखा। ज्ञानेश्वरी (भगवद्गीता का भाष्य) जब लिखी गई तब १४ वर्ष की अवस्था थी ज्ञानेश्वर की।

सत्संग

जिज्ञासा यदि भीतर जाग उठे तो समग्रता और उन्मुखता की अवस्था हमारे भीतर ठहर सकती है। और ऐसे जिज्ञासुओं का सहजीवन है सत्संग। सत्संग यानी उन्मुखता और विनम्रता इन दो अवस्थाओं का सहवास।

हमारा पंचभूतों का देह तो पात्र है जिसमें ये अवस्थाएँ जीती हैं। यदि संवेदनशीलता की अवस्था ठहर सके, यदि अक्षुब्ध विनम्रता ठहर सके तो ऐसी अवस्थाओं के सहवास में से, सत्संग में से सत्यों का उद्घाटन स्वयं होता है। वहाँ अहंकार को कुछ प्राप्त नहीं करना पड़ता, कमाना नहीं पड़ता। स्वयं उपलब्ध हो जाता है। यही जीवन-प्रभु का अनुग्रह है।

जिज्ञासुओं के साथ रहने के अवसर यूरोप, अमेरिका में उपलब्ध होते हैं। साथ रहते हैं, भोजन बनाते हैं, परिश्रम करते हैं। सारा जीवन जब साथ चलता है तो जिज्ञासा कुतूहल के स्तर पर उतर नहीं पाती। उसकी तीव्रता, सघनता, उत्कटता, गहनता भीतर ठहरती है। वैसा आयोजन तो यहाँ नहीं हो पाया। लेकिन दिन में दो बार मिलेंगे।

वाणी की परिशुद्धि

'ध्यान' शब्द को खूब प्रेम से देखना पड़ेगा। शब्द के विषय में हमारी लापरवाही, उपेक्षा रहती है। वाणी के विषय में भी वही है। वाणी का तत्त्व अत्यन्त महत्त्व का मूलभूत तत्त्व है, जिसमें से मनुष्य ने भाषा बनाई है। लेकिन शब्दों का उपयोग इतनी लापरवाही से, उपेक्षा से हम करते हैं। हमें परिचय नहीं कि उनकी त्वचाएँ क्या बोलती हैं, उनके अक्षर, मात्रा, का क्या रहस्य है, उनके नादों के स्पन्दन क्या हैं। 'राम' में 'र' के स्पन्दन क्या कहते हैं, उसके उच्चार से क्या घटित होता है।

आप जब अपने भीतर और आसमन्त में, 'नाम' के मारफत स्पन्दनों के वलय अपने आसपास खड़े कर लेते हैं तब उसकी रासायनिक घटना क्या घटित होती है, इसे देखते ही नहीं। शब्दों का उपयोग अतिशयोक्ति में, सन्दिग्धता में करते हैं। असत्य के अनन्त प्रकार हैं—अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, सन्दिग्धता के दोष वाणी के विनियोग में रहते हैं। विज्ञान और गणित के समान परिशुद्धि (accuracy and precision) हमारे वाग्व्यवहार में नहीं हैं। इसलिए शब्द की जो शक्ति है, वाग्देवता का प्रसाद है वह हमें मिलता नहीं है। दिन भर वाणी

के द्वारा अग्नि-तत्त्व को बाहर फेंकते रहते हैं, और सन्ध्या के समय शरीर की क्षीणता, मन की थकान, चित्त की उद्विग्नता लेकर शय्या पर जाते हैं।

'ध्यान' का मर्म

'ध्यान' शब्द यहाँ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है, होता रहेगा। इस तरफ आपका अवधान आकर्पित करना चाहती हूँ। 'ध्यान दीजिए'—ऐसा प्रयोग हिन्दी भाषा में होता है जिसका अर्थ होता है—'अवधान दीजिए'। 'आपका ध्यान आकर्षित करते हैं'। अवधान देना पड़ता है, किसी विषय की तरफ़ अवधान को एकाग्र करके देना—यह हुआ ध्यान देना। दूसरा प्रयोग हैं—'ध्यान करते हैं'—यहाँ दूसरा आशय है, 'ध्यान' एक क्रिया हो गई। किसी विषय पर सारी शक्ति केन्द्रित करते हैं कुछ देखने के लिए। पहले प्रयोग में 'अवधान देना' होता है कुछ समझने के लिए, अनुभूति, प्रत्यय के लिए। दूसरे प्रयोग में कुछ कर रहे हैं उसमें से कुछ निष्पत्ति हो, निपज हो, अपने भीतर कुछ घटित हो—इसलिए। यह करने की एक क्रिया है।

यहाँ देखिए कैसी ढिलाई हो जाती है। एकाग्र करना यह एक मानसिक क्रिया है। चित्त के अवधान को सब विषयों से हटा लिया, एक ही दिशा में उसे लगाना चाहते हैं; वह ठहरता नहीं तो कुछ उपाय भी करना चाहते हैं। एकाग्रता स्थिर रह सके इसके लिए भी उपाय करते हैं। यह सारी मानसिक क्रिया है। जप करते हैं, पूजा करते हैं—ये क्रियाएँ हैं। चित्त को एकाग्र करके नामस्मरण करते हैं। यहाँ करना अभिप्रेत है। 'ध्यान करना'।

मौन में बैठना ध्यान करना नहीं है। क्रिया से शरीर, वाणी, मन को घड़ी भर, दिन भर, रात भर विरत करके रखना, हटा लेना, अक्रिया में रखना—यह मौन का कर्म ध्यान नहीं है। यह जो शरीर, मन, वाणी की अक्रिया में रहने का पुरुषार्थ है इसका भी उपयोग है, निष्पत्तियाँ हैं, लेकिन यह ध्यान नहीं।

'ध्यान कर रहे थे'—इस प्रयोग में सुनिश्चितता का अभाव है। या तो दर्शन की स्वच्छता नहीं है, या आशय की विशदता नहीं है या अनुभूति की स्पष्टता नहीं है। कुछ तो खामी है। और जीवन एक विज्ञान है। यहाँ एक रत्ती

भर भी अवधान छूटने से काम नहीं चलेगा। कुशलता व परिशुद्धि का अभाव—ये खामियाँ जीवन का सौरभ निखरने नहीं देतीं। जीने नहीं देतीं। ऐसा नहीं है कि केवल यन्त्र और विज्ञान में ही परिशुद्धि (accuracy) चाहिए। यह कहना चाहती हूँ कि वैज्ञानिक परिशुद्धि न हो, इन्द्रिय, मन, वाणी का वैज्ञानिक विनियोग न हो तो जिया नहीं जा सकता।

जीवन एक गति है—अपार, असीम गति। उस गति में इन्द्रियगत, बुद्धिगत, वाणीगत, प्रतिक्रियागत अनिश्चितता, सन्दिग्धता लेकर कैसे जिया जाएगा? जी नहीं पाएँगे।

ध्यान शब्द का जो प्रयोग यहाँ होगा, उसका जो आशय यहाँ अभिप्रेत रहेगा उसे जरा गौर से देख लीजिएगा यह अनुरोध है। ध्यान करने की क्रिया नहीं, ध्यान अवधान देने का विषय नहीं। एक अवस्था है, समग्रता की एक दशा है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, रासायनिक अवस्था है। मनुष्य के भीतर जितने भी स्तर हैं, उनमें संवाद की अवस्था है। इस शब्द का इस देश में जितनी सुस्पष्टता से प्रयोग होगा उतना इस देश का श्रेय होगा।

भूल से ध्यान शब्द के अपप्रयोग से, उसके आसपास अपसिद्धान्तों को सजाते सँवारते रहने से हम लोग बड़े भ्रम में रहते हैं। पाँच मिनट आँखें बन्द कीं, अक्रिया में रत रहे, समझ लिया ध्यान में रत थे। ध्यान तो अवस्थान्तर है। २४ घंटे की जो अवस्था है उससे भिन्न अवस्था में प्रतिष्ठा है, केवल प्रवेश नहीं।

जीवन के नये आयाम में प्रतिष्ठित होने की बात कल कही गई थी। यह इस युग की माँग है। जिस चेतना में, जीवन-पद्धति में इन्द्रिय-मन-बुद्धि से हमारा जैसा संबन्ध है, समस्या वहाँ है। इसलिए नये आयाम में हमारा प्रवेश और प्रतिष्ठा आवश्यक है। इसी हाड़ मांस में से नये मानव के सर्जन की बात कल कही गई। तो, यह जो नया आयाम है, नई दशा है, यह कैसे उपलब्ध हो इसे दो-तीन दिन तक देखेंगे।

ध्यान क्रिया नहीं, कर्म नहीं, एकाग्रता के पुरुषार्थ का विषय नहीं। जो एकाग्रता के पुरुषार्थ के विषय हैं, उनका निषेध अभिप्रेत नहीं। जप हो, पूजा हो, जीवन में निषेध करने लायक कुछ भी तो नहीं दीखता।

खण्डन और निषेध

खण्डन और निषेध की भाषा उनके मुख में अनायास आ जाती है जिनके चित्त में कुछ आग्रह है अपनी उपलब्धि के विषय में। 'हमें जो उपलब्ध हुआ', —'हमारे द्वारा जो उपलब्ध हुआ' नहीं,—उसका आग्रह रहता है। उपलब्धि को अनुभूति बनाकर जो उस पर ममत्व-भाव रखना चाहते हैं, वे दूसरों का निषेध करेंगे, खण्डन करेंगे। हाँ, वैज्ञानिक अवलोकन का निर्देश किया जा सकता है। लेकिन निषेध कैसा ? खण्डन कैसा ?

हम कोई पहले जिज्ञासु नहीं। हमसे पहले इसी देश में नही, सभी देशों में असंख्य जिज्ञासु हो गए हैं। उन्होंने अपने जीवन में जो पुरुषार्थ किये होंगे, जिन अवस्थाओं तक वे पहुँचे होंगे, उन सबका दुग्धप्राशन करके हमारा पिण्ड बना है। उसका निषेध कैसे करेंगे ? अपने ही संस्कारों की भूमि का निषेध कैसे करेंगे ? इस धरती को हटा कर चल नहीं पाएँगे। मन और बुद्धि में विचारों का, ज्ञान का जो संग्रह पड़ा है उसका निषेध करके आगे चल नहीं पाएँगे।

आजकल निषेध और खण्डन की भाषा बड़ी लोकप्रिय है। एक तो ज़ेन-बुद्धिज़्म (Zen Buddhism) का प्रभाव है। खण्डन-निषेध से लोकप्रियता बहुत जल्दी मिल जाती है क्योंकि उससे तत्काल संवेदन (sensation) पैदा होता है। आज विद्रोह की भाषा तो संसार में चल ही रही है। आर्थिक राज-नैतिक, सामाजिक सभी मूल्य जिनका समय लद चुका है, उन्हें उखाड़ फेंकने पर आज का नौजवान तुला हुआ है। निषेध और खण्डन की भाषा अध्यात्म में भी बहुत प्रिय लगती है, जो एकदम विकृत है, अवैज्ञानिक है।

एकाग्रता की मर्यादित उपयोगिता

जो एकाग्रता के पुरुषार्थ के विषय हैं उनका निषेध नहीं कर रहे हैं। उनकी मर्यादित उपयोगिता है। प्रयोजन हैं। वे सप्रयोजन उपयोग में लाने के विषय हैं। मन की, चित्त की सुप्त शक्तियों को जगाना है, अतीन्द्रिय शक्तियाँ जो भीतर पड़ी हैं, उन्हें जगाना है तो एकाग्रता का उपयोग कीजिए। जप करें, नामस्मरण करें, अक्षरों, मात्राओं के तत्त्व को जानकर उनके स्पन्दनों का एक वलय अपने

आसपास खड़ा करें। उसमें शुद्धि है भीतर और बाहर की। उतने क्षेत्र में बाहर के स्पन्दन आप पर परिणाम नहीं कर सकते। एक सुरक्षा बना ली है, उसमें बैठे हैं। शक्तियों को जगाना हो, अनुभूतियों को लेना हो तो ले लें।

भौतिक, मानसिक, बौद्धिक सुखों से हटकर अतीन्द्रिय सुखों की अभिलाषा जागी हो तो मनुष्य जप करेगा, त्राटक करेगा, कुण्डलिनी को जगाने की प्रक्रिया में जाएगा। पश्चिम में विज्ञान और यन्त्र-उद्योग का नशा है तो हमारे यहाँ अतीन्द्रिय शक्तियों का नशा है। नशा तो नशा है। नशे में जिया नहीं जाता, उसमें बहा जाता है। विकारों के आवेगों पर, विचारों के आवेशों पर आप बहते हैं, तो कोई लोग अतीन्द्रिय शक्तियों के उन्माद पर बहते हैं। यह तो बहना हुआ, जीना नहीं हुआ। जीना एक पुरुषार्थ का विषय है जिसमें संतुलन, प्रसाद, शान्ति ओतप्रोत हैं।

इस प्रकार अतीन्द्रिय शक्तियों को जगाने के साधनों का मर्यादित उपयोग है, विज्ञान है, पद्धतियाँ हैं, तन्त्र हैं। उनका जितना विकास इस देश में हुआ, उतना शायद ही कहीं हुआ हो। तिब्बत में कुछ हुआ। कॉकेशस, जॉर्जिया, मिस्र के आसपास के प्रदेश में भी कुछ विकास हुआ है। जिन लोगों को इन्हें देखने की अभिलाषा हो वे देख भी लें। समझने की बात है कि अध्यात्म से उनका कोई संबन्ध नहीं। सूर्यनारायण की उपासना की। गायत्री का जप किया। बुद्धि की भेदकता, स्वच्छता, धारणा-शक्ति की, स्मृति की समृद्धि—सब कुछ उपलब्ध होगा। तो, उन सब क्रियाओं का एक प्रयोग होता है, पद्धति होती है, उनसे कुछ प्राप्त होता है।

ध्यान एक अवस्था है

ध्यान क्रिया नहीं, एक अवस्था है। उसकी कोई प्रक्रिया नहीं, तन्त्र नहीं, मन्त्र नहीं। जब वह समग्रता की एक अवस्था है, तो तन्त्र, मन्त्र, जप आदि का विनियोग करने के लिए शेष कौन बचेगा? समग्रता के मौन में अवस्थान्तर के बाद जो घटित होता है उसका ध्यानावस्था से संबन्ध है।

अध्यात्म बुद्धि का विषय क्यों नहीं ?

अब यह देखना है कि अध्यात्म बुद्धि का विषय क्यों नहीं है। ब्रह्मसूत्र की चतु:सूत्री के शाङ्कर भाष्य का एक वाक्य है—'न एकान्तेन अविषय:'। "सत्य बुद्धि-ग्राह्य नहीं, किन्तु सर्वथा बुद्धिग्राह्य न हो ऐसी बात भी नहीं।" इसका क्या अभिप्राय है ? वह क्या है, इसे तो बुद्धि पकड़ नहीं पाती, किन्तु वह क्या नहीं है, यह समझने के लिए बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है। यहाँ थोड़ा-सा श्लेष अभिप्रेत है, किन्तु उसमें जा नहीं सकते। ब्रह्मसूत्रों की बात करने तो नहीं आई हूँ। बुद्धि की मर्यादा समझने के लिए चतु:सूत्री पर भगवान् शंकर का भाष्य देख लें तो काफ़ी स्पष्टता हो जाएगी। विदग्धता, विशदता दृष्टि में आ जाएगी।

बुद्धि करती क्या है ? 'बुद्धि' में मन, स्मृति सबको शामिल कर रही हूँ। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—इस चित्तचतुष्टय को शामिल कर रही हूँ कभी 'मन' में, कभी 'बुद्धि' में। बुद्धि करती क्या है ?

बुद्धि की मर्यादा

बुद्धि की पहली मर्यादा यह है कि वह जन्म और मृत्यु इन बिन्दुओं के बीच ही जीवन को देख सकती है। जन्म से पहले और मृत्यु के बाद देखना हो तो अनुमान, आप्तवचन, सिद्धान्त का उपयोग करना होगा। बुद्धि का दर्शन कहाँ सीमित है, इसे देखिए। जीवन इतना ही तो नहीं है। जन्म में जीवन का प्रारम्भ और मृत्यु में उसका अन्त हो ऐसा तो नहीं है। जन्म और मृत्यु दोनों को मिला कर जीवन है। ये तो दो घटनाएँ हैं। बुद्धि इन के परे देख नहीं पाती। अनन्त जीवन को जन्म और मृत्यु की दो घटनाओं के बीच कैद करके कैसे समझिएगा ? उसके रहस्यों का उद्‌घाटन इन दो बिन्दुओं के बीच कैसे होगा ?

चारदीवारी के बीच भवन बना कर 'यह मेरा घर है' ऐसा मान कर जिया जा सकता है। लेकिन उस घर में अनन्त विश्व को लाया नहीं जा सकता। वहाँ तो धरती आकाश भी मर्यादित हो जाते हैं। अहं-मम के सुख के लिए रहना हो तो भले रह लीजिए। 'यह मेरा विचार, मेरे संस्कार, मेरा ज्ञान है'—यों कह

कर जन्म और मृत्यु की घटनाओं के बीच अनुभूति, ज्ञान आदि का परिग्रह करके घेरा बना लेंगे आप। ठीक वैसे ही जैसे ईंट, पत्थर, चूने का मकान बनाते हैं। बुद्धि यही करती है। इसके बाहर नहीं जा सकती। और यह जो दो बिन्दुओं के बीच जीवन को बाँधा है, इसके बल पर इन दो बिन्दुओं के बाहर जीवन का अर्थ लगाने जाएँगे तो धोखा खाएँगे।

जीवन में अनुमान काम नहीं देता। परायत्त अनुभूति काम नहीं देती। यहाँ तो नकद सौदा है। जो स्वायत्त है उतना ही आपका जीवन है। जो प्रत्यय के बिना बोला गया, परायत्त प्रत्यय को लेकर जिया गया, वह परोक्ष (second hand) जीवन है, अपरोक्ष (first hand) नहीं। जितना स्वायत्त जीवन है उतना आपका, उसी में तेज है, आलोक है, लावण्य है। जीवन की गति में गति मिलाकर जीने की बात यही है।

बुद्धि की दूसरी मर्यादा यह है कि वह समग्रता को एक साथ नहीं देख पाती। जीवन को पूर्वापर क्रम (sequence) में बाँटना पड़ता है। जीवन में क्रम (sequence) नहीं, कार्य-कारण-भाव नहीं। जन्म और मृत्यु—इन दो बिन्दुओं के बीच जो मनुष्य को करना है शरीर से, मन से, वाणी से उसमें कार्य-कारण-भाव आएगा, आपका क्रम आएगा।

जीवन तो युगपत् है। विश्व में जो कुछ घटित होता है, वह एक समय में, एक क्षण में होता है। अनन्त प्रवाहों की धारा पर प्रभु का जीवन-संगीत निनादित होता रहता है। हम मुश्किल से एक सुर पकड़ पाते हैं। आप तो कार्य-कारण-भाव में सारे जीवन को बैठाना चाहेंगे। बुद्धि उसके बिना देख नहीं सकती।

बुद्धि को समय नाम का तत्त्व लाना पड़ता है, क्योंकि उसके बिना वह देख नहीं सकती। बुद्धि के दर्शन समय (time) और अवकाश (space) एवं कार्य-कारण-भाव से सीमित हो जाते है। इन सीमाओं को देखने की ज़रूरत है। इन्हें स्वीकार करके बुद्धि ने काफ़ी कुछ हमें दिया है। तिरस्कार से नहीं बोल रही हूँ। लेकिन बुद्धि के कर्तृत्व का जो क्षेत्र है उसमें अंगभूत जो मौलिक मर्या-

दाएँ हैं, उन्हें समझ लेने पर पता चलेगा कि जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध बुद्धि के द्वारा क्यों नहीं साधा जा सकता ।

बुद्धि एक ही घटना को पूर्वापर क्रम में, कारण-कार्य में बाँट कर देखती है। हमारे देखे जीवन में 'कारण'-'कार्य'—ऐसा विभाजन नहीं है, क्रम नहीं है। जो कुछ है, समग्रता में है, सदा उपस्थित है। सत्ता, अस्तित्व जीवन का स्वरूप है। हम उसे खण्डशः देखते हैं और कारण-कार्य-सम्बन्ध आरोपित करते हैं, लेकिन जीवन की अपनी सत्ता में इस प्रकार के भेद नहीं हैं।

बुद्धि की तीसरी मर्यादा यह है कि मस्तिष्क एक करण है। अन्तःकरण है, उपकरण नहीं। अमेरिका में वैज्ञानिक इस कोशिश में हैं कि जिन तत्त्वों से हमारा मस्तिष्क बना है, वैसा ही मस्तिष्क बनाया जाय। वैद्युत (electronic) मस्तिष्क से उन्हें सन्तोष नहीं है। रासायनिक मस्तिष्क बनाना चाहते हैं।

[यहाँ पर आइंस्टाइन की वसीयत के निर्वाहक डॉ. ऑटो नेथन के साथ गत नवम्बर में न्यूयार्क में कम्प्यूटर की कार्य-प्रणाली का आँखों देखा हाल सुनाया गया था।—संपा०]

अब वे लोग कम्प्यूटर में क्रोध, भय, द्वेष इन तीन भावनाओं को भरना चाहते हैं। उसमें बुद्धि, स्मृति, धृति को तो भर ही चुके हैं। अब इससे आगे देखना चाहते हैं।

मन की सब यान्त्रिक क्रियाओं को आँख खोल कर देखने की आवश्यकता है। मस्तिष्क एक करण है, एक रासायनिक इकाई है। यन्त्र शब्द बड़ा स्थूल है। मस्तिष्क में ऐसे गोलक हैं जहाँ आप की सब संगृहीत अनुभूतियाँ रसायन में रूपान्तरित हो कर सञ्चित हो जाती हैं। आदिमानव से आज तक जो भी अर्जित हुआ है, जो भी अनुभूतियाँ उपार्जित हुई हैं, आविष्कृत हुई हैं, वे सब आपके और हमारे मस्तिस्क में संगृहीत हैं। रसायन के रूप में पड़ी है।

आप मन को चेतन-अचेतन-अवचेतन स्तरों में बाँट कर देख सकते हैं। लेकिन वह तो एक अविभाज्य, अखण्ड चेतना है। उसमें यह सब पड़ा है, और हम दावे के साथ कहना चाहते हैं कि अचेतन, अवचेतन को खोल कर आदि

मानव से आज तक के ज्ञान और अनुभूतियों को देखना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। उसके द्वार खोले जा सकते हैं, उन अनुभूतियों को देखा जा सकता है। फिर वह ईसा हो, कन्फ्यूशस हो, बुद्ध-महावीर हो, गौराङ्ग महाप्रभु या ज्ञानेश्वर हो— चेतना की जिस दशा में वे लोग चले गये थे, हर व्यक्ति के भीतर वह पड़ा है। सवाल खोलने और देखने का है। यह केवल वस्तुस्थिति का वर्णन है। उसे बाँट लेना चाहती हूँ।

जब किसी भी इन्द्रिय का उसके विषय से सम्बन्ध होता है तो उस समय आपका शरीर, जो एक वैद्युत-चुम्बक-यन्त्र (electro-magnetie apparatus) है, उसमें एक संवेदन पैदा होता है। यह जो संवेदन पैदा हुआ यह यात्रा करता हुआ मस्तिष्क तक जाता है। विद्युत् से भी तीव्र गति से यह काम चलता है। मस्तिष्क में जो ज्ञान, अनुभूति, विचार, जीवन-पद्धतियाँ संगृहीत हैं उनमें कम्प, स्पन्दन उत्पन्न होता है। फिर उसके अनुसार आपकी प्रतिक्रिया होतो है।

जो हमारा दर्शन, श्रवण है वह मुक्त नहीं है। आँख खोलने पर लगता है कि हम देख रहे हैं। देख रहे हैं हमारे विचार और विकार। हम नहीं देखते, देखते हैं हमारे संस्कार। चर्मचक्षु का उपयोग करके संस्कार देखते हैं। चित्त में उस समय जो वृत्ति होगी वह वृत्ति चर्म-चक्षु का उपयोग करके देख रही है। आप नहीं देख रहे हैं। क्रोध के क्षण में क्रोध देखता है, घृणा के क्षण में घृणा देखती है। वे तो करण हैं, उनका उपयोग कोई भी कर लें। भूल से हम समझते हैं कि हम देख रहे हैं, हम समझ रहे हैं, प्रतिक्रिया हमारी है।

सहज, स्वयम्भू गति तो सम्भव ही नहीं, संस्कारों के अनुसार ही हमारी प्रतिक्रिया होगी। जिन पद्धतियों में हम पले हैं, उनके अनुसार प्रतिक्रिया होगी। मनुष्य भ्रम से उन प्रतिक्रियाओं को जीवन समझता है। वह समझता है कि मैं जी रहा हूं, जी रहे हैं, संस्कार, जी रही हैं पद्धतियाँ।

गणवद्ध (regimented) विचार, भावनायें, अनुकूलित प्रतिवर्त्त (Condi-oned reflex)—ये सामूहिक हैं, व्यक्तिगत नहीं। थोड़ा सा कुछ इधर-उधर, बहुत ऊपरी सतह पर व्यक्तिगत हेर-फेर होता है। किसी परिस्थिति में सारे

हिन्दू समाज, सारे मुसलमान या ईसाई समाज की एक-सी रासायनिक प्रतिक्रिया कैसे होती है ! बुद्धि व्यक्तिगत है ही नही । यह सुनकर वड़ी ठेस लगती है । जब इसका दर्शन हुआ तो हमारी भी वड़ी दुर्गति हुई । समूह के घटक हम हैं, हमारा व्यक्तिगत कुछ भी नहीं, यह वात सुखद तो नहीं है । देश-वंश-जाति-धर्म-कुल-गत संस्कारों के ऊपर के चेतन स्तर पर कुछ व्यक्तिगत उपार्जन रहता है थोड़ा बहुत, लेकिन वह नगण्य है ।

जीवन का अर्थ उपलब्ध होना, जीवन के साथ मिलन होना, बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि की गति विचारों पर, ज्ञान पर निर्भर है, आश्रित है, स्वयम्भू नहीं । बुद्धि की मार्फ़त देखना अप्रत्यक्ष देखना है । प्रत्यक्ष-सम्बन्ध जीवन के साथ आयेगा ही नहीं, जब तक हम बुद्धि या मन के स्तर पर जियेंगे, काम करेंगे । जरूरत है सीधे स्पर्श की, मिलन की । पारस और लोहे के बीच यदि रेशम की मुलायम सुन्दर चादर रखी हो तो सुवर्ण नहीं बनेगा । दोनों का सीधा स्पर्श आवश्यक है । विचारों, संस्कारों, सिद्धान्तों, निष्कर्षों की हमारी चादर है, किसी की मोटी, किसी की महीन । यही प्रत्यवाय है । बुद्धि ही प्रत्यवाय है । यह वात लोगों को वड़ी बुरी लगतो है ।

बुद्धि के द्वारा मनुष्य का जो जीवन चला है, वह परायत्त जीवन है, अब मनुष्य को आगे वढ़ना है, मानसिक उत्परिवर्तन (Prychological mutation) में से जाकर अपना स्वायत्त सिद्ध करना है । इतिहास में सव कुछ सिद्ध नहीं हुआ है । मानव का जन्म बाकी है । मनुष्य को अपना परिचय नहीं है । जब तक आत्मपरिचय नहीं, तव तक अपनी महिमा, गरिमा, गौरव में जी नहीं सकेंगे । हमारी प्रतिक्रिया स्वचालित नहीं, परचालित है, पर-प्रकाशित है, पर-प्रत्यय-नेय है । उसका उपयोग है । भौतिकी, रसायनशास्त्र, यन्त्र विज्ञान इत्यादि सीखना हो, चाँद पर उतरना हो, जहाँ जहाँ यान्त्रिक क्रियाओं की जरूरत हो, वहाँ बुद्धि का उपयोग है । यदि वह संस्कारित की गई हो, स्वच्छ रखीं गई हो, तीव्र बनाई गई हो, तो उसका उपयोग है । जहाँ-जहाँ यान्त्रिक क्रिया का क्षेत्र है, वहाँ बुद्धि का प्रयोग अनिवार्य है ।

अध्यात्म में बुद्धि के सारे प्रयत्न असंगत क्यों हो जाते हैं? सत्य की उपलब्धि क्यों 'की' नहीं जा सकती ? वह 'होती' क्यों है ? इसे हमने अभी देखा। सत्य की उपलब्धि को प्रभु का, विभु का अनुग्रह कहो, प्रसाद कहो, लेकिन वह होती है। वह एक घटना है, प्राप्ति नहीं, पुरुषार्थ की क्रिया नहीं; इस कारण दीनता, हीनता, जड़ता आ जायेगी—इस भय में न रहें।

अज्ञात का भय

जो ज्ञात है, जिस अवस्था में दिन-रात जीते हैं, वह क्या है ? इसे देख लेना है। ज्ञात से परिचय नहीं होगा तो अज्ञात का भय खड़ा होगा। जीवन में 'ज्ञात'-'अज्ञात' ऐसा विभाजन नहीं है। ज्ञात का अज्ञान ही अज्ञात को खड़ा करता है। उसका भय उपजाता है। जीवन में अज्ञात कुछ है ही नहीं। बन्धन से अपरिचय ही मुक्ति की लालसा को जगाता है। हो सकता है, बन्धन के परिचय या बोध में से जो खिलेगी वह मुक्ति होगी। बन्धन के अज्ञान से मनुष्य बँध जाता है। बन्धन के स्वरूप को प्यार से देखें, घृणा से नहीं। कैसे बँधे हैं, गाँठ कैसे लगी है, इसे देख लें तो खोलने में देर नहीं होगी, लेकिन हम देखना नहीं चाहते।

तन से अपरिचय

हम इन्द्रियों पर, बुद्धि पर, आरूढ़ हैं। कौन है जो इन्द्रियों को समग्र स्वस्थ सुन्दर रखे ? हमें अपने शरीर से प्रेम कहाँ है ? इन्द्रियों से परिचय किसे है ? इन्हें कार्यक्षम, तीव्र-संवेदनशील रखने की परवाह किसे है ? प्रवाहपतित रह कर हम इन्द्रियों का उपयोग करते हैं। किसे प्रेम है जीवन से ? पैसा कमाने के लिये जीवन है, प्रतिष्ठा कमाने के लिये जीवन है, जीने के लिये नहीं। प्रभु का विग्रह यह जो शरीर है, उसे कौन देखे? हमारा कहीं परिचय है ? अपने जठर से, उदर से; अन्न खाने पर, गले से उसके नीचे उतरते ही पचन की जो प्रक्रिया होती है, उसका कुछ परिचय है हमें ? किस प्रकार का आहार अपने अनुकूल है, इसे कोई सोचता है ? रसना की लालसा में शब्दों की आतिशबाजी चलती है, जिह्वा की लालसा में रसोईं घर में आधी जिन्दगी बीतती है। लेकिन शरीर से परिचय

हिन्दू समाज, सारे मुसलमान या ईसाई समाज़ की एक-सी रासायनिक प्रतिक्रिया कैसे होती है ! बुद्धि व्यक्तिगत है ही नही । यह सुनकर बड़ी ठेस लगती है । जब इसका दर्शन हुआ तो हमारी भी बड़ी दुर्गति हुई । समूह के घटक हम हैं, हमारा व्यक्तिगत कुछ भी नहीं, यह बात सुखद तो नहीं है । देश-वंश-जाति-धर्म-कुल-गत संस्कारों के ऊपर के चेतन स्तर पर कुछ व्यक्तिगत उपार्जन रहता है थोड़ा बहुत, लेकिन वह नगण्य है ।

जीवन का अर्थ उपलब्ध होना, जीवन के साथ मिलन होना, बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि की गति विचारों पर, ज्ञान पर निर्भर है, आश्रित है, स्वयम्भू नहीं । बुद्धि की मार्फ़त देखना अप्रत्यक्ष देखना है । प्रत्यक्ष-सम्बन्ध जीवन के साथ आयेगा ही नहीं, जब तक हम बुद्धि या मन के स्तर पर जियेंगे, काम करेंगे । जरूरत है सीधे स्पर्श की, मिलन की । पारस और लोहे के बीच यदि रेशम की मुलायम सुन्दर चादर रखी हो तो सुवर्ण नहीं बनेगा । दोनों का सीधा स्पर्श आवश्यक है । विचारों, संस्कारों, सिद्धान्तों, निष्कर्षों की हमारी चादर है, किसी की मोटी, किसी की महीन । यही प्रत्यवाय है । बुद्धि ही प्रत्य-वाय है । यह बात लोगों को बड़ी बुरी लगतो है ।

बुद्धि के द्वारा मनुष्य का जो जीवन चला है, वह परायत्त जीवन है, अब मनुष्य को आगे बढ़ना है, मानसिक उत्परिवर्तन (Prychological mutation) में से जाकर अपना स्वायत्त सिद्ध करना है । इतिहास में सब कुछ सिद्ध नहीं हुआ है। मानव का जन्म बाकी है। मनुष्य को अपना परिचय नहीं है । जब तक आत्मपरिचय नहीं, तब तक अपनी महिमा, गरिमा, गौरव में जी नहीं सकेंगे । हमारी प्रतिक्रिया स्वचालित नहीं, परचालित है, पर-प्रकाशित है, पर-प्रत्यय-नेय है । उसका उपयोग है । भौतिकी, रसायनशास्त्र, यन्त्र विज्ञान इत्थादि सीखना हो, चाँद पर उतरना हो, जहाँ जहाँ यान्त्रिक क्रियाओं की जरूरत हो, वहाँ बुद्धि का उपयोग है । यदि वह संस्कारित की गई हो, स्वच्छ रखीं गई हो, तीव्र बनाई गई हो, तो उसका उपयोग है । जहाँ-जहाँ यान्त्रिक क्रिया का क्षेत्र है, वहाँ बुद्धि का प्रयोग अनिवार्य है ।

अध्यात्म में बुद्धि के सारे प्रयत्न असंगत क्यों हो जाते हैं? सत्य की उपलब्धि क्यों 'की' नहीं जा सकती ? वह 'होती' क्यों है ? इसे हमने अभी देखा। सत्य की उपलब्धि को प्रभु का, विभु का अनुग्रह कहो, प्रसाद कहो, लेकिन वह होती है। वह एक घटना है, प्राप्ति नहीं, पुरुषार्थ की क्रिया नहीं; इस कारण दीनता, हीनता, जड़ता आ जायेगी—इस भय में न रहें।

अज्ञात का भय

जो ज्ञात है, जिस अवस्था में दिन-रात जीते हैं, वह क्या है ? इसे देख लेना है। ज्ञात से परिचय नहीं होगा तो अज्ञात का भय खड़ा होगा। जीवन में 'ज्ञात'-'अज्ञात' ऐसा विभाजन नहीं है। ज्ञात का अज्ञान ही अज्ञात को खड़ा करता है। उसका भय उपजाता है। जीवन में अज्ञात कुछ है ही नहीं। वन्धन से अपरिचय ही मुक्ति की लालसा को जगाता है। हो सकता है, वन्धन के परिचय या वोध में से जो खिलेगी वह मुक्ति होगी। वन्धन के अज्ञान से मनुष्य बँध जाता है। वन्धन के स्वरूप को प्यार से देखें, घृणा से नहीं। कैसे बँधे हैं, गाँठ कैसे लगी है, इसे देख लें तो खोलने में देर नहीं होगी, लेकिन हम देखना नहीं चाहते।

तन से अपरिचय

हम इन्द्रियों पर, बुद्धि पर, आरूढ़ हैं। कौन है जो इन्द्रियों को समग्र स्वस्थ सुन्दर रखे ? हमें अपने शरीर से प्रेम कहाँ है ? इन्द्रियों से परिचय किसे है ? इन्हें कार्यक्षम, तीव्र-संवेदनशील रखने की परवाह किसे है ? प्रवाहपतित रह कर हम इन्द्रियों का उपयोग करते हैं। किसे प्रेम है जीवन से ? पैसा कमाने के लिये जीवन है, प्रतिष्ठा कमाने के लिये जीवन है, जीने के लिये नहीं। प्रभु का विग्रह यह जो शरीर है, उसे कौन देखे ? हमारा कहीं परिचय है ? अपने जठर से, उदर से; अन्न खाने पर, गले से उसके नीचे उतरते ही पचन की जो प्रक्रिया होती है, उसका कुछ परिचय है हमें ? किस प्रकार का आहार अपने अनुकूल है, इसे कोई सोचता है ? रसना की लालसा में शब्दों की आतिशबाजी चलती है, जिह्वा की लालसा में रसोईं घर में आधी जिन्दगी बीतती है। लेकिन शरीर से परिचय

नहीं, बात-पित्त-कफ में से कब किस की प्रधानता है इसका पता नहीं। कौन सा आहार कितनी मात्रा में अनुकूल है, कौन से वस्त्र किस ऋतु में अनुकूल हैं, इसे कौन देखता है ? कान, आँख, नाक आदि से भी आहार का ग्रहण होता है, इसके प्रति किस की दृष्टि है ? कुछ भी सुन लिया, बोल लिया, कहीं भी बैठ लिया। कहीं भी जायें, आहार घटित होता है, दशेन्द्रियों से, इसे कौन देखता है ?

शुद्धि की शक्ति

जिज्ञासा की अग्नि प्रज्वलित रखने के लिये शुद्धि की ही आहुति अपेक्षित है। शुद्धि ही एकमेव शक्ति है। उससे फ़ौलाद जैसी काया बनती है। हठयोग की बात नहीं।

श्वास-उच्छ्वास

कभी देखा है श्वास कहाँ जाता है ? कहाँ तक पहुँचता है ? भीतर गई हुई पूरी वायु को ले कर बाहर आता है क्या ? श्वास लेते हैं तो वायु के साथ-साथ और भी कोई ऊर्जा है जिसे ग्रहण करते हैं, या श्वास के साथ जो ऊर्जा भीतर गई उसे उच्छ्वास के साथ बाहर निकाल देते हैं ? श्वास-उच्छ्वास के बीच में धारण की घटना घटती है? जितना पवन का हिस्सा भीतर गया था उतना ही बाहर गया और जीवन-तत्त्व आत्मसात् कर लिया गया क्या ? हम तो सोचते ही नहीं कि श्वासोच्छ्वास क्या है ? श्वास-उच्छ्वास के बीच से जो जीवन-तत्त्व भीतर धारण हुआ उसे बनाये रखने के लिये एक और दूसरे श्वास के बीच समय का अन्तर रखा जाय—उसका सौन्दर्य कभी देखा है ? उसके लिये समय किसे है ? उसे देखे तो आदमी आनन्दातिरेक में ही रहेगा, दूसरा कोई चारा नहीं है। अद्भुत है जीवन।

श्वासोच्छ्वास के जीवनतत्त्व को स्थिर करने के लिये धारण-शक्ति बढ़ानी पड़ती है। फिर दिन में २१६०० बार जो श्वास लिये जाते हैं, उनकी संख्या कैसे घटती है, और आयु-मर्यादा कैसे बढ़ती है, ये सब बड़ी अद्भुत बातें हैं। हमें तो आश्चर्य है टेलीविज़न का, रेडियो का, सिनेमा का। भीतर का विश्व, आन्तरिक ऐश्वर्य हमारे परिचय में कहाँ है ?

आन्तरिक ऐश्वर्य

भौतिक सुख की चरम सीमा पर बैठे हुए लोगों को देखिये, योरोप, में, अमेरिका में। सुन्दर हृष्ट-पुष्ट शरीर हैं। सब सुविधाओं से सम्पन्न घर-द्वार हैं, लेकिन भीतर से रिक्त मानव छिन्न-विच्छिन्न दिखाई देता है। बाहर का ऐश्वर्य जिसे मानव ने यन्त्रविज्ञान की मदद से सम्पादित किया है, जीवन को वीभत्स और कुरूप बना देता है। आन्तरिक ऐश्वर्य के बिना बाहर की सामग्री जीवन को कुरूप बना देती है। बाहर के ऐश्वर्य का निषेध नहीं, लेकिन आन्तरिक ऐश्वर्य से ही बाहर की सामग्री शोभा देती है। फिर वह शृङ्गार-प्रसाधन हो या और कुछ। शव का शृङ्गार कैसा ? भीतर से खोखले छिन्न-विच्छिन्न मानव पड़े हैं। दिन भर में सौ बार जिन्हें ईर्ष्या, क्रोध, मत्सर की आग जलाती है, दिन में कई घण्टे चित्त विक्षिप्त, असन्तुलित रहता है, ऐसे मानवों को बाह्य ऐश्वर्य क्या श्री-सम्पन्न बनायेगा ? बाह्य और आन्तरिक ऐश्वर्य का समन्वय कैसे हो ?

उपसंहार

इन्द्रियाँ जो संवेदन ग्रहण करती हैं, उनमें विकृतियाँ हैं। संवेदनों के मस्तिष्क तक पहुँचने की प्रक्रिया में विकृतियाँ हैं, फिर बुद्धि द्वारा अर्थ लगाने की बात आती है, और बुद्धि तो परायत्त गति से चलती है। यदि ऐसी बुद्धि की मार्फ़त सत्य का उद्‌घाटन चाहेंगे, जीवन के सत्य की उपलब्धि चाहेंगे, परमात्मा का अनुग्रह चाहेंगे, तो हमारी नासमझी ही तो है। अपने क्षेत्र में बुद्धि का विनि-योग हो, तीक्ष्णता से हो, वह ठीक है।

जो विचारातीत, गुणातीत, भावातीत निर्द्वन्द्व क्षेत्र है, द्वैत-अद्वैत से परे है, उसमें यदि बुद्धि द्वारा प्रवेश नहीं होता तो कैसे होगा, प्रतिष्ठा कैसे होगी ? यह कल देखेंगे।

●

(ख) प्रथम प्रश्नोत्तरी

समय—सायं ५ बजे

प्रश्न १—कहा जाता है कि श्रवण के समय मन तुलना की प्रक्रिया में व्यस्त हो जाता है। अतः समग्र श्रवण नहीं हो पाता तथा वक्ता एवं श्रोता का समागम बाधित हो जाता है। सत्य है। किन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि शब्द ज्ञात अर्थों के संसर्ग से ही अर्थवान् होते हैं? अतः क्या यह स्वाभाविक एवं अनिवार्य नहीं है कि शब्द श्रुतिगोचर होते ही स्मृति को जागृत करें एवं पूर्व ज्ञात तद्गत अर्थों को उद्बोधित करें? यदि ऐसा है तो शाब्दिक संवाद में मन का तुलना की प्रक्रिया में व्यस्त होना क्या अनिवार्य नहीं है?

उत्तर—शब्द सुनते ही उसके अर्थ का बोध होना एक बात है और उस बोध के साथ चित्त में प्रतिक्रिया उठना दूसरी बात है। उस प्रतिक्रिया का चाह से, वासना से, आकांक्षा से संबन्ध है। ऐसी प्रतिक्रिया का बोध के क्षण में उठना और उस बोध के कारण होने वाला जो परिणाम है उसके भावनात्मक आशय (emotional content) को दूषित बना देना दूसरी बात है।

यह ठीक कहा कि ज्ञान, अनुभूतियों का जो संग्रह चित्त में पड़ा है, तदनुसार शब्द को सुनते ही उसका अर्थ स्मृति में उभर आता है। लेकिन उसके साथ-साथ 'यह चाहिए', 'यह नहीं चाहिए', 'यह अच्छा है', 'यह बुरा है—ऐसा जो भीतर निर्णय उठता है, प्रतिक्रिया उठती है, उससे श्रवण दूषित हो जाता है। ये सारी प्रक्रियाएँ अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी एक दूसरे के साथ मिल जाती हैं। श्रवण दूषित होता है, अर्थबोध के क्षण में जो दूसरी प्रतिक्रिया आ कर उसमें मिल जाती है, उससे। बोध के क्षण में प्रतिक्रिया का इस प्रकार घुल-मिल जाना ज़रूरी तो नहीं है।

सागर किनारे खड़े हैं । तरंगों को जल की सत्ता पर उठते-गिरते देखा । पवन के साथ जल का संसर्ग देखा । कितना ही अर्थबोध हो गया । लावण्य से कुछ आनन्द भी हुआ । अब इसके घटित होने के क्षण में चित्त कहता है— "अहा ! कितना सुन्दर है ! इसे मैं पकड़ रखूँ । सागर के और मेरी समग्रता के मिलन के क्षण में जो घटित हुआ उस संयोग में से जनित आनन्द को पकड़ सकूँ, टिका सकूँ, दोहरा सकूँ, उत्कट बना सकूँ, तीव्र बना सकूँ"—यह सारा का सारा जंजाल उस आनन्द के क्षण में क्यों आ जाता है ? यही जंजाल श्रवण और दर्शन को दूषित बना देता है ।

यह कहा गया कि श्रोता और वक्ता के बीच यदि कोई संयोग घटित होना हो तो स्मृति में जो संस्कार पड़े हैं, रुचि-अरुचि, निर्णय-निष्कर्ष पड़े हैं, उन्हें बीच में न आने दें ।

श्रवण एक बहुत सौन्दर्यशालिनी घटना है । श्रवण में, दर्शन में, स्पर्श में मिलन घटित हो और उस मिलन के परिणाम में सारी समग्रता, सारा व्यक्तित्व घुलमिल सके । उसे स्वीकार या निषेध करना तो जरूरी नहीं । श्रवण के साथ निषेध-स्वीकार को जोड़ें क्यों ? देखने के क्षण में भीतर जो परिणाम घटित होता है उसे कभी देखा है आपने ?

सीखने (Learning) और जानने (Knowing) का जो सूक्ष्म भेद है, उसे कभी गौर से देखा है या नहीं ? बुद्धि के माध्यम से कुछ कमाऊँ, कुछ संग्रह करूँ यह है जानना । प्राप्ति (acquisition) में तुलना अनिवार्य है । आपको कोई गहना या हीरा-मोती खरीदना है तो दूकान पर आप तुलना करेंगे ही । उसमें तुलना अनिवार्य है । लेकिन सीखने में जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, उसके अर्थबोध का मतलब संग्रह नहीं होता । जानना तो जोड़-तोड़ की प्रक्रिया है । और सीखने में व्यक्ति सारे व्यक्तित्व से उन्मुख होकर सेवन करता है । सहमति, असहमति उस क्षण में नहीं होती ।

संगीत सुनते समय केवल कान ही तो नहीं सुनते हैं । जो केवल कान से संगीत सुनता है वह स्वरों की समग्रता को पाएगा ही नहीं । रोम-रोम से स्वर

के साथ, ताल लय के साथ, उसमें ग्रथित कौशल के साथ व्यक्ति का संबन्ध हो जाता है। संगीत का श्रवण जैसे समग्रता का मिलन है उसी प्रकार सीखने में समग्रता ही काम करती है, वह सेवन करती हैं।

आहार मुँह से खाते हैं, ऐसा दीखता है, लेकिन दशेन्द्रियाँ वहाँ सेवन करती हैं। अन्न के स्वरूप का, स्वाद का, सौरभ का सेवन होता है। जहाँ शास्त्रीय निरूपण हो, पदार्थविज्ञान की बात हो, किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन हो, जहाँ कुछ जानने के लिए मनुष्य जाता है, वहाँ की प्रक्रिया अलग है, और जहाँ सेवन के लिए जाता है, वहाँ की बात अलग है।

प्रेम के क्षण में तुलना उठे तो वह प्रेम ही नहीं, मिलन ही नहीं। वैसे ही श्रवण में तुलना को अवकाश नहीं। सचमुच है यह कठिन बात, क्योंकि हमें आदत है सभाओं में जाने की, जानने के लिए, ग्रहण करने के लिए, तुलना के लिये, संग्रह के लिए। इसी के लिए हमारी तैयारी हुई है। इसलिए निर्दोष नज़र है ही नहीं हमारे पास।

निर्दोषता से सेवन करना, रूप-रस-गन्ध से मिलन घटित होने देना मानव के पास है ही नहीं। मनुष्य का विकास सम्यक् नहीं हुआ है। इसीलिये श्रोता वक्ता के सम्बन्ध के लिए कहा गया कि पाना, जोड़ना, बाकी करना ये सब क्रियायें श्रवण में न रहें तो जो सुख-संवाद है, प्रेम-संवाद है, उसमें आपके दिमाग पर बोझ नहीं रहेगा, तनाव नहीं रहेगा। बुद्धि पर प्राप्ति का बोझ रहे तो ज्ञान-तन्तुओं पर तनाव आता है, और तनाव आते ही रासायनिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है। प्राप्ति की प्रक्रिया ही चुनाव की प्रक्रिया है, और चुनाव में स्वीकार के साथ-साथ अस्वीकार लगा रहता है। अतः श्रोता व वक्ता का मिलन नहीं हो पाता।

[अंग्रेज़ी के प्रश्नोत्तरों को अंग्रेजी खण्ड में यथास्थान देखें। —संपा०]

: ३ :

दिनांक १९-२-७१ समय—प्रातः ९ बजे

(क) तृतीय प्रवचन

सत्योपलब्धि या आत्मोपलब्धि बुद्धिग्राह्य विषय क्यों नहीं है, वह देखने का कल प्रयत्न हुआ। उससे आगे आज चलना है।

साधना या साधकावस्था

बुद्धि से या मन से जिसके पास जाया नहीं जा सकता ऐसे मुकाम पर पहुँचने के लिए जिज्ञासु क्या करे? यक्ष-प्रश्न है यह। सुझाने की इच्छा होती है कि पहले तन और मन दोनों से परिचय पाकर दोनों से मैत्री साध लेने पर दोनों के साथ वैज्ञानिक व्यवहार सध जाना चाहिए। जिज्ञासु तब तक साधक नहीं बन पाएगा जब तक उसका शरीर, मन और बुद्धि के साथ वैज्ञानिक और प्रेममय व्यवहार नहीं होगा। जीवन की समग्रता के साथ जिज्ञासा को जोड़ना ही साधक बनना है।

साधना कोई विशिष्ट समय में, विशिष्ट स्थान में करने का कर्म नहीं है। आत्मजिज्ञासा को, सत्यजिज्ञासा को सारे जीवन की समग्रता के साथ जोड़ देना ही साधना है। जिज्ञासा के आलोक में शरीर, मन की क्रियाओं को करते रहना सत्संग है। जिज्ञासा की कुण्ठारहित गति साधना है।

हम जिज्ञासा को कुण्ठित कर देते हैं। शरीर से परीचय नहीं, इन्द्रियों का मन के साथ क्या सम्बन्ध है इसे देखा नहीं, आहार-विहार के सम्बन्ध को देखा नहीं। इन्द्रियों के साथ यदि आप की परम्परागत व्यवहार चलता है ही जिज्ञासा

को आप कहाँ ले जाएँगे ? प्रवचनों में, सभाओं में, ग्रंथों के पास जाना क्या कोई मानसिक खेल है ? जिज्ञासा जिएगी कहाँ ?

आप के दैनिक जीवन में, प्रभात से सन्ध्या तक, बल्कि रात में भी जिज्ञासा को जीने का अवसर मिलना चाहिए। शरीर के बारे में जो परम्परागत धारणाएं हैं, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों में जो मान्यताएँ है, उनसे ही यदि काम चलाना हो, यहाँ यदि जिज्ञासा को नहीं लगाना हो तो क्या आत्मा-परमात्मा के चिन्तन में ही उसे लगाना है ? साधक वह है जो जिज्ञासा को जीने देता है अकुण्ठित गति से, अबाधित रीति से।

वैज्ञानिक दृष्टि

मैं किस प्रकार का अन्न ग्रहण करती हूँ यह भी साधना का विषय है। दृष्टि वैज्ञानिक हो तो उसमें आग्रह नहीं आएगा, उसे लेकर अहंकार नहीं बढ़ेगा कि हमारा सात्त्विक आहार है, हम तपस्वी हैं। संयमी हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत बड़ी चीज जीवन में बनती है, घटित होती है। अहंकार को अवकाश नहीं मिलता वृत्ति को दूषित बनाने का। समझ लिया कि यह आहार अनुकूल है। आहार की इतनी मात्रा अनुकूल है कि भूख न सताए और भारीपन भी न रहे। दोनों अति के छोर जहाँ छूट जाएँ वहाँ संयम स्वयमेव उपस्थित है, उसे साधना नहीं पड़ता। अति का भान हो जाए तो संयम तो स्वभाव ही है। असन्तुलन स्वभाव नहीं, विकृति है। सन्तुलन ही स्वभाव है। हर्ष, शोक विकृतियाँ हैं। चित्त की स्वस्थता, उसका प्रसाद तो स्वभाव है।

आदत का आश्रय

तो, देखना पड़ेगा कि किस प्रकार का आहार लिया जाता है। 'यह मेरी आदत है'। 'यह हमारे घर का रिवाज है'—यह कह कर जिज्ञासु अन्न-जल की मात्रा इत्यादि की बात नहीं छोड़ सकता। जिज्ञासु के पास आदत नाम की चीज हो नहीं सकती। जिज्ञासा का पहला कदम है आदतों से अलग हो जाना। आदत ही तो बन्धन का मूल है। 'यह तो मेरी आदत है, इसके बिना चल नहीं

सकता'—यह कह कर हर चीज को छोड़ दें तो जिज्ञासा कहाँ रहेगी ? आदत का आश्रय ले कर साधक जी नहीं सकता। आदत के आश्रय में सत्य की व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं हो सकती।

सत्य जीवन से बाहर नहीं

सत्य क्या कोई 'अमूर्त' 'गूढ़' (Abstract) रूप में पड़ा है ? तथाकथित दैनिक जीवन से कहीं दूर पड़ा है ? वह तो यहाँ, इसी समय, इसी क्षण और पल में है। जो कुछ सुबह से शाम तक हम कर रहे हैं, उस सब में वही सत्ता है। यहाँ, यहीं नहीं खोजिएगा तो कहाँ खोजिएगा ? जीवन से बाहर सत्य नहीं, प्रभु, परमात्मा नहीं। जीवन ही विभु है, अनन्त ऐश्वर्यशाली है। हम सोचते हैं कि साधना करनी है, लेकिन दैनिक व्यवहार तो ऐसे ही चलेंगे। शारीरिक व्यवहार तो ऐसे ही चलेगा; वाणी का व्यापार तो ऐसे ही चलेगा। और फिर एकान्त में बैठ कर आँख बन्द कर के खोजेंगे—असम्भव है।

विज्ञानपूत व्यवहार

आहार-विहार में वैज्ञानिक दृष्टि, विज्ञानपूत व्यवहार चाहिए। उसमें आग्रह नहीं, दबाव-तनाव नहीं, दम्भ-पाखण्ड नहीं, निग्रह-दमन-पीड़नके लिए अवकाश नहीं। जो बात समझ में आ गई वह तो सहज, स्वाभाविक हो ही जाएगी। वहाँ दम्भ–पाखण्ड या दमन-पीड़न कैसे आएगा ? वैज्ञानिक दृष्टि को जीवन में, अध्यात्म में लगाना आवश्यक है।

अध्यात्म और आशुविश्वास

अध्यात्म की बात आई कि मनुष्य कितना आशुविश्वासी हो जाता है ? विश्वासों पर, रूढ़ियाँ पर, मान्यताओं पर चलता है। इधर यन्त्र-विज्ञान तो उसे आधुनिकतम चाहिए, लेकिन अध्यात्म की बात आई कि चला संप्रदाय में, आशु-विश्वासिता में। चाहे जो मान लेगा, चमत्कार को नमस्कार करेगा। सारे संसार में अध्यात्म को लेकर एक अजीब जीर्ण मतवाद प्रचलित है, जो जिज्ञासा को जीने नहीं देता, उसका गला घोंट देता है।

विज्ञानपूत दृष्टि सहजता का प्रारम्भ

पहली क्रान्ति होगी अपने शरीर-व्यापार को लेकर। उठने-बैठने, सोने-जागने, हँसने-बोलने, खाने-पीने को लेकर वैज्ञानिक दृष्टि चलेगी। आसन, अधिष्ठान वही होगा। और विज्ञानपूत दृष्टि में निग्रह, दमन, पीड़न की आवश्यकता न होने के कारण सहजता का प्रारम्भ वहीं से होगा।

पहला कदम—शरीर से परिचय

बुद्धि से परे जाना है, मन से परे जाना है, लेकिन कदम कहाँ पड़ेगा ? सौ मील चलना है, लेकिन पहला कदम तो जहाँ बैठे हैं, वहीं से उठाना पड़ेगा। जिस शरीर में बैठे हैं, वहाँ से पहला कदम उठाने के लिए विज्ञानपूत शरीर-व्यापार, शरीर से परिचय आवश्यक है। शरीर कोई दुश्मन नहीं, कोई पूजा या उपासना की भी विभूति नहीं। दोनों गलत हैं। न वह कुचलने की चीज है, न पूजने की। इन दोनों दृष्टियों से विरत होकर जब वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाएँगे तब जिज्ञासा को श्वासोच्छ्वास लेने के लिए आप अवकाश देंगे !

शरीर-व्यापार में यान्त्रिकता

ज्ञात के बारे में अज्ञान और उसके साथ ग़लत सम्बन्ध ही अज्ञात का भ्रम पैदा करता है। शरीर-व्यापार में कहाँ-कहाँ विज्ञान को ले जाया जा सकता है ? हमें तो बिना आदत के कुछ भी करना नहीं आता। देख लीजिएगा सुबह से रात तक के व्यवहार में। स्नान भी हमारे लिए यान्त्रिक बन जाता है। भोजन भी यान्त्रिक क्रिया है।

जल के स्पर्श से अभिभूत होने का हमें समय नहीं है। व्यग्रचित्त हैं और नहा रहे हैं। तो, शरीर स्वच्छ होगा, प्रक्षालन नहीं होगा। वह स्वच्छ होगा, शुचिभूत नहीं होगा। स्वच्छता और मंगलता में अन्तर है। हमारा तो जल के साथ सम्बन्ध ही नहीं है। सप्त नदियों, सप्त सागरों के जल का आवाहन करके लोग स्नान किया करते थे। 'जले सन्निधिं कुरु'। उसमें एक संकेत था कि जल-तत्त्व जो शरीर के भीतर है, वही ब्रह्माण्ड में है। उन दोनों के संयोग का

अवसर है स्नान। लेकिन हम नहा कर ऐसे निकल आते हैं जैसे कुछ भी न हुआ हो।

भोजन करने वैठते हैं तो अन्न के साथ संयोग नहीं होता, यज्ञकर्म नहीं होता, आहुति नहीं दे रहे हैं। या तो उपेक्षा है, कौर मुँह में दिये जा रहे हैं, मन कहीं और है, बातें कुछ और चल रही हैं। भोजन के साथ सम्बन्ध ही नहीं है। अन्नब्रह्म का सेवन कहाँ? धारण कहाँ? भोजन कहाँ? कुछ भी तो नहीं होता।

समग्रता से खिला हुआ कर्म

हमारे सभी कर्म खण्डित होते हैं और इसीलिए जीवन से हमारा मिलन नहीं होता। समग्रता से खिला हुआ कर्म पुष्प है जो बाँधता नहीं, जो पीछे कोई संस्कार नहीं छोड़ जाता, स्मृति नहीं छोड़ जाता। द्वन्द्व के बीच में से निर्द्वन्द्व रह कर आदमी निकल जाता है — एक शान के साथ, ऐश्वर्य के साथ। न सुख बाँधता है, न दुःख रोकता है। न हर्ष की उत्तेजना है, न शोक का अवसाद। गुज़रता चला जाता है, गुज़रना तो है ही।

सन्तुलित व्यवहार

शरीर-व्यापार हमारे कैसे चलते हैं? या तो उपेक्षा रहती है या भोग की लालसा। या तो दमन-पीड़न, या उत्तेजना या व्यग्रता, सभी तनावयुक्त अवस्थाएँ हैं। वैज्ञानिक, सन्तुलित व्यवहार नहीं। यदि यहाँ सन्तुलन घटित नहीं होगा तो आगे चल कर कैसे उपलब्ध होगा? पार्थिव और चिन्मय कोई दो खण्ड तो नहीं जीवन के। पार्थिव आवरणों में ही तो चिन्मय छिपा है।

जिज्ञासा को जीवनदान

जिज्ञासा को जीवन-दान दीजिए, जीने दीजिए। प्रारम्भ कीजिए इन्द्रियों से। क्या ज़रूरत है कि शरीर में कहीं रक्त के थक्के (clots) बनें, कहीं गठिया का दर्द हो, कहीं कड़ापन (Rigidity) हो। इस प्रकार की ग्रन्थियाँ, रक्ताभिसरण में अवरोध उत्पन्न होने ही क्यों देते हैं? क्योंकि शुरू से उस ओर

ध्यान नहीं दिया है। स्नायुओं के साथ, मांस-पेशियों के साथ, मज्जा के साथ व्यवहार कैसे करना चाहिए, यह कभी देखा ही नहीं। उनका स्वास्थ्य, सौन्दर्य, लावण्य बना रहे, इस ओर कभी अवधान नहीं रखा। शरीर को कैसे उठाना, कैसे बैठाना, कैसे चलाना, कभी देखा है सभान अवस्था में ? कैसी सुन्दर मानव-काया है, लेकिन इस ओर अवधान न देने के कारण ग़लत ढंग से बैठने की, उठने की, चलने की, श्वास लेने की आदत हो गई है। इसमें से विकृतियाँ पैदा होती रहती हैं।

योगशास्त्र

शरीर को स्वस्थ, सप्रमाण, सुन्दर, सुडौल, निरामय रखा जा सके, इसलिए योगशास्त्र आया। यह कोई असम्भव नहीं है। मनुष्य इस पर विचार करे कि इसकी भी ज़रूरत है जीवन में। जिज्ञासा के आलोक में जीवन को देखने का यानी साधना का प्रारम्भ बता रही हूँ। यह कोई रहस्यवाद नहीं है। साधना कोई रहस्यमय, गूढ़ वस्तु नहीं है।

वाणी का अपमान

वाणी तो दासी से भी अधिक अपमानित होती है हमारे जीवन में, व्यवहार में। बेचारी कुचली जाती है, रौंदी जाती है। जो नहीं करना है वह कहा जाता है, जो करना है उसे छिपाया जाता है, और यह सब उसी के द्वारा कराया जाता है। जो जिया नहीं है वह बतलाया जाता है और जो अपने को जीना नहीं है वह भी बतलाया जाता है। वाणी दासी नहीं है, वह माँ है। उसमें छिपी मङ्गलता, दीप्ति, अग्नितत्त्व का हमें जरा भी भान नहीं है। दिन भर यदि वाणी का अप-प्रयोग करेंगे, उसे अपमानित करेंगे, उपेक्षित रखेंगे, उसके साथ व्यभिचार करेंगे, तो घण्टा भर ज़बान बन्द करके बैठने से क्या मौन सधेगा ? रोज़ दिन भर खूब बोलेंगे और सप्ताह में एक दिन चुप रहेंगे, वह भी तो वाणी के साथ अत्याचार होगा। या तो अपप्रयोग करेंगे या दबायेंगे।

यह विज्ञानपूत दृष्टि नहीं है, यह वैज्ञानिक व्यवहार नहीं है। जब मुँह नहीं

भी खोलते हैं तो अपने साथ भीतर बोलते रहते हैं दिनरात। जो वाणी का उपयोग, विनियोग पवित्रता, मङ्गलता के लिये करेगा, उसके व्यवहार में अतिशयोक्ति, सन्दिग्धता, अनिश्चितता नहीं रहेगी, तब आपके द्वारा जो शब्द बोले जायेंगे उनका उपादान ही मौन होगा। मौन के उपादान से गढ़े हुए शब्द ही फिर निकलेंगे। शब्द तब भीतर की मौनावस्था की छाया होंगे। शब्द की काया, तेज बदल जायेगा। उसमें प्राणों का संचार होगा। आज तो शब्द निष्प्राण हैं, शव हैं, छिलके हैं, सत्त्व नहीं है उनमें।

वाणी का यथार्थ उपयोग

जिसने वाणी का यथार्थ उपयोग करने की कला साध ली, उसके जीवन की अनन्त समस्यायें अपने आप शान्त होंगी। घर में इससे नहीं बनती, उससे नहीं बनती; मित्रों में ग़लतफ़हमी, सन्देह—यह सारा का सारा मायाजाल शान्त हो जायगा, यदि वाणी के साथ वैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित होगा।

घण्टा भर उपांशु जप किया या वैखरी से जप किया या मन्त्रोच्चारण, स्त्रोत्र पाठ किया और बाकी २३ घण्टे चाहे जैसे वाणी का उपयोग किया—यह सब साधना नहीं है। वाणी पर स्वार्थ के चाबुक चलायेंगे, लालसा की लकड़ी चलायेंगे, वाणी को गुलाम बनायेंगे तो साधक नहीं बन सकेंगे। वाग्देवता को गुलामी की जंजीरों से मुक्त कर दीजिये।

ज्ञानेश्वर ने अमृतानुभव नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ लिखा था १५ वर्ष की आयु में। उस में कहा है—

"चार ही वाचा श्रृंगार हे अविद्येचा" परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये चारों वाणियाँ अविद्या का श्रृंगार हैं। वाणी की मूलभूत कमज़ोरी का रहस्य फिर कभी मिलना हुआ तो कहेंगे। लेकिन आज, वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती की श्रृंगारित, प्रसाधित प्रेरक वाणी भी वैज्ञानिक दृष्टिसे बरती जाय यह छोटा सा सुझाव साधकों के चिन्तन के लिये छोड़ देते हैं।

गुरु के सामने विनम्रता की भाषा, और नौकर से बोलने में भाषा का बदल

जाना; स्वर, शब्द सब का बदल जाना—यह देखने की बात है। अपने वरिष्ठ अधिकारी के साथ दूसरा व्यवहार है, कनिष्ठ अधिकारी से दूसरा, बेटे के साथ एक व्यवहार है पड़ोसी के बेटे से दूसरा। यह जब तक चलेगा तब तक बन्धन से मुक्ति कैसे होगी ? यही तो बन्धन है।

मन से परिचय

मन से परिचय और मन-बुद्धि का वैज्ञानिक उपयोग—यह सब ध्यान की तैयारी हैं। मन विक्षुब्धावस्था में हो तो आगे की यात्रा नहीं हो सकती। आन्तर यात्रा के पथ में जो रोड़े हैं, विक्षेप-प्रत्यवाय हैं, उन्हें पहले हटाना पड़ता है। मन या बुद्धि की हालत वाणी से भी बुरी है। कहाँ उनका उपयोग करना है, सोचते ही नहीं। कुत्ते की दुम और आदमी का मन चञ्चल ही रहता है। कुछ जानकारी प्राप्त करनी हो तो बुद्धि का उपयोग कीजिये। उस जानकारी को संगृहीत करना हो तो स्मृति का उपयोग कीजिये। कुछ संयोजन करना है सामुदायिक व्यवस्था के लिये तो कल्पना शक्ति का उपयोग कीजिये। इन सब शक्तियों का उपयोग जीवन में करना तो है ही, लेकिन जब प्रयोजन न हो तब ? कुछ काम नहीं करना है, बैठे हैं शान्ति से। याद कर रहे हैं कल की, परसों की, दस वर्ष पहले की घटित घटनाओं को। उनकी जुगाली कर रहे हैं। स्मरण-शक्ति का दुरुपयोग है न ! कोई घटना घटी और उसकी 'रिपोर्ट' देना है, उसमें अपनी कल्पना शक्ति मिला देते हैं। रुचि-अरुचि के रंग उसमें डालते हैं। अपने अभिप्राय को उसमें गूँथ देते हैं। यह 'रिपोर्ट' देना हुआ ? हर चीज़ में कल्पना-शक्ति को लगाना, जहाँ काम नहीं, वहाँ स्मृति को लगाना—इसीलिये मनुष्य का मस्तिष्क थका रहता है।

चित्त की समग्रता से कर्म

जिज्ञासु से साधक की अवस्था तक पहुँचने की बात हो रही है। मन के उपयोग के प्रसंग में एक और बात। कोई भी कर्म करते समय समस्त चित्त को वहाँ लगाना चाहिये। रसोई बना रहे हों तो रसोई की बात मन में रहे। लेकिन हम तो दफ़्तर में हों तो घर की बात सोचते हैं, घर में हों तो दफ़्तर की। पत्नी

के पास हों तो मित्र की, और मित्र के पास हों तो पत्नी की बात सोचते हैं। एक भी कर्म सम्पूर्ण मन से नहीं करते।

विभाजित चित्त की दशा में किया हुआ कर्म बाँधता है, क्योंकि जो कर रहे हैं, वह भी सम्पूर्णता से नहीं किया जाता, और जिसका चिन्तन कर रहे हैं, उसकी भी अनुभूति नहीं होती। जो मन में आया और कर नहीं सकते, उसका भी स्नायविक, रासायनिक तनाव होता है, और जो कर रहे हैं, वह भी आधे मन से होता है, इसलिये उसका भी तनाव-दबाव रहता है। ऐसे तनाव-दबाव लेकर क्यों जीना ?

हमें इसका शिक्षण ही नहीं मिला हैं कि जिस समय जो भी करना हो उसे अपनी सम्पूर्णता में करें, समग्रता में करें। ताकि अगले क्षण से मिलन घटित होने के लिये मुक्त रहें। यह न हो कि इस क्षण से आगे के क्षण तक अपने आप-को घसीटना पड़े।

मन के उपयोग में वैज्ञानिकता किस प्रकार लाई जा सकती है, उसका यहाँ सङ्केत या इशारा भर किया गया है, यह पूरा विवरण नहीं है।

योग

इस प्रकार यदि शरीर, वाणी, मन, बुद्धि के साथ वैज्ञानिक व्यवहार सध गया तो वही तो योग है। "समत्वं योग उच्यते।" समत्व क्या है ? जड़ता तो नहीं है। सन्तुलन ही समत्त्व है। सन्तुलन यदि सध गया तो आगे का कदम उठ सकता है।

मन का मौन

आगे का कदम यह है कि मन के मौन को घटित होने दें। २४ घण्टे में कोई समय ऐसा निकालें जब एकान्त में शान्त स्थान में बैठें। उस समय आप पर किसी का कोई दावा न हो। आत्मसङ्ग के लिये जब बैठें तो आप किसी के पति नहीं, पत्नी नहीं, पिता या भाई नहीं। उतने समय में विक्षेप न आये, उठना न पड़े। शान्ति से स्वस्थ होकर बैठ गये, और कर क्या रहे हैं ? वहाँ शेष

रह जाता है देखना। कर्तृत्व नहीं, द्रष्टृत्व वहाँ रहेगा। द्रष्टापन की धारणा से कठिन आरोहण, सख्त चढ़ाई शुरू होती है। यहाँ तक तो समतल भूमि थी। शरीर, मन, वाणी के व्यापारों को देखा, वैज्ञानिक सन्तुलन साध लिया। यह समतल भूमि थी। अब चढ़ाई है।

चढ़ाई यह है कि देखने की अवस्था में रहने का अभ्यास नहीं है हमें, शिक्षा नहीं है। देखने की अवस्था पल भर भी ठहर नहीं पाती। देखा कि भीतर कुछ तुलना हुई, विश्लेषण हुआ। 'चाहिए', 'नहीं चाहिए' के भाव उठे, निषेध-स्वीकार के भाव उठे। देखना नहीं रह जाता। पल भर में देखने की अवस्था हट कर कर्ता-भोक्ता की अवस्था आती है।

मनुष्य निर्णय करना ही जानता है। अब उसे स्वयं अपना शिक्षण करना है और सीखना है देखना (observation)। देखने बैठेंगे तो देखा कि निर्णय उठा 'अच्छा' या 'बुरा' का। फिर देखने की अवस्था में वापस आए। कुछ समय तक यह दोहरी प्रक्रिया चलती है। जिज्ञासा की उत्कटता जितनी अधिक होगी उतना ही इस दोहरी प्रक्रिया का समय घटेगा।

कितना समय लगेगा ? इसका उत्तर यही है कि जिज्ञासा की उत्कटता के अनुपात में समय लगता है। समय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जिज्ञासा अत्यंत गहन, गम्भीर, उत्कट हो तो गति बढ़ेगी। गति के अनुपात में अवकाश सिकुड़ते, सिमटते चले जाते हैं। उत्कटता एक आयाम है, उसकी अपनी गति है। जितनी उत्कटता होगी उतनी गति बढ़ेगी। समय कितना लगेगा, यह अपने पर निर्भर है।

द्रष्टा और कर्ता-भोक्ता की भूमिका

तो, यह दोहरी प्रक्रिया चलती है देखना, देखने की अवस्था छूट जाना, फिर हाथ आना। दोहरी प्रक्रिया यदि शान्त हो जाए, जब शान्त हो जाए, तब फिर देखना शेष रहता है। साक्षित्व शेष रहता है, द्रष्टृत्व शेष रहता है। चेतन, अचेतन, अवचेतन में जो भरा पड़ा है, वह सब देखा जाता है। जब चेतना के द्वार खुलते हैं और अचेतन स्तर के संस्कार, अनुभव ऊपर उभर कर आते हैं

तब देखने की अवस्था में ठहरना मुश्किल हो जाता है। अचेतन, अवचेतन में ज्ञान और अनुभूतियों का जो खमीर पड़ा है, उसका नशा होता है।

कोई प्रकाश दिखा, कोई नाद सुनाई पड़ा, आ गया नशा। नाद भी तो एक प्रकार का द्रव द्रव्य है। नाड़ियों में से बहता है। अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य है वह। उसके स्पन्दन हैं जो सुनाई पड़ते हैं। वह अनाहत ध्वनि है जिसके आधार पर संगीत के सप्त स्वर सुनाई पड़ेंगे। श्वास के कोमल स्पर्श से जब नाड़ियों में स्पन्दन होता है, तब चित्त शान्त हो तो, वे स्पन्दन सुनाई पड़ेंगे। लेकिन लोगों को इसका कितना अहंकार होता है!

जरा सा प्रकाश दिखा, अग्नि के रंग का दिखा, नीलवर्ण का दिखा। पंच-महाभूत भीतर पड़े हैं। उनमें से जब जिसकी प्रबलता होगी उसके अनुसार रंगों के दर्शन होते हैं। आखिर वहाँ भी तो द्वैत है ही। दर्शन भी है, दृश्य भी है। कभी नाद, कभी प्रकाश, कभी सौरभ आता है। सौरभ क्या है? किस उपादान से उसका निर्माण होता है? यह भी एक विषय है जिसमें अभी जा नहीं सकेंगे। लेकिन यहाँ पर देखना छूट जाता है और भोक्ता की भूमिका आ जाती है, क्योंकि सुख होता है।

इन्द्रिय-विषय-संग में उतना सुख नहीं जितना इन अतीन्द्रिय अनुभूतियों में है। वह अनुभूति न बने और घटना ही रह जाए। अचेतन के द्वार खुलने पर जो कुछ दीखता है, वह दृश्य ही रह जाए, विषय न बने। बड़ा सूक्ष्म भेद है। उसके उपभोग में मनुष्य उलझ जाता है। दामन इसमें न उलझे तो उससे भी गहराई में जो संस्कार पड़े हैं वे ऊपर आते हैं। चेतन मन जिन दर्शन-श्रवणादि का कोई अर्थ नहीं लगा पाएगा, ऐसी भी घटनाएँ घटित होंगी। इनको घटित होने देना चाहिए, इनमें से गुजर जाना चाहिए। लेकिन वहाँ भोक्ता की भूमिका में उत-रना नहीं चाहिए। वहाँ उतरे तो देखना छूट जाता है।

मनुष्य देखने की अवस्था में वहाँ ठहरे, स्थिर रहे। जिज्ञासा के आलोक में देख ले कि कहाँ क्या पड़ा है। यह दीखता है, यह घटित होता है और आगे निकल जाए। अतीन्द्रिय में फँसे नहीं, अटके नहीं। इसीलिए कहा कि यह शूरों

का काम है। साहस का काम है देखने की अवस्था में रहना। कायरों का काम नहीं।

द्रष्टा का शान्त होना

देखने की अवस्था यदि यहाँ तक रही तो फिर सब दृश्य शान्त हैं और दृश्यों के शान्त होने पर द्रष्टा स्वयमेव विसर्जित हो जाता है, शान्त हो जाता है। उस अवस्था तक पहुँचेंगे। लेकिन द्रष्टा के शान्त या विसर्जित होने से पहले, यह ध्यान रहे कि अन्तिम छटपटाहट वह एक बार करके देखता है।

अहंकार की छटपटाहट

देखने का कर्म जब तक चलता रहता है, तब तक अत्यन्त सूक्ष्म स्तर पर अहंकार है। द्रष्टा भावको धारण करने के लिए अहंकार का लेश अनिवार्य है। अब जब सब दृश्य शान्त हो गए तो अहंकार जिएगा कहाँ ? अब उसकी छटपटाहट का पार नहीं। उसे तो क्रिया, या अक्रिया या साक्षित्व भाव कुछ भी आधार चाहिए जीने के लिए। अब न दिशाएँ हैं, न गन्तव्य स्थान है, न कुछ करने को है, न देखने को। तो वह विकल होकर रो पड़ता है कि अब मैं मरा। उसके जीवित रहने के लिए कुछ भी नहीं यहाँ। उसकी आकुलता, व्याकुलता, क्रन्दन की सीमा नहीं रहती। अहंकार कहता है मुझे ले चलो, यहाँ तो करने को कुछ भी नहीं है।

अहंकार सोचता है कि और कुछ नहीं तो मैं कम से कम प्रपत्ति का पुरुषार्थ तो कर लूँ। शरणागति भी कोई कर्म है ? कोई पुरुषार्थ है ? अहंकार उस शरणागति को पकड़कर जिएगा कि मैंने शरणागति की, मेरा रास्ता समर्पण का है। समर्पण को भी पुरुषार्थ बना लिया है। शरणागति का अहंकार रखने वालों को आपने इस देश में देखा होगा।

भावातीत प्रदेश

जब सब दृश्य शान्त हो जाते हैं तो एक तलहीन खाई, दिशाहीन प्रदेश आता है। वह भावातीत है। वहाँ धारण करने को कहीं कुछ अवकाश नहीं। बड़ी

आकुलता, विकलता, छटपटाहट, क्रन्दन की घड़ी आती है। उसे कोई टाल नहीं सकता। उससे भागें नहीं। यहाँ तक की यात्रा निष्फल होगी यदि उस अवस्था से वचने के लिए भिक्षापात्र लेकर दस दिशाओं में दौड़ने लगें कि कहीं तो कोई वचाने वाला मिले। वचते रहने से सत्य का उद्‌घाटन नहीं होगा। जो वचना चाहता है, वह उपलब्धि नहीं पाएगा। प्राप्ति का प्रलोभन और पलायन—दोनों एक ही सिक्के की दो पीठ हैं। जैसा परितोष (Fulfilment) प्राप्ति में से मिलता है, वैसा ही पलायन में से भी मिलता है। अहंकार वहाँ कुछ पकड़ कर जी सकता है।

इस अवस्था से मनुष्य भागे नहीं। क्या हर्ज़ है—रोयें, आँसू वहें, सिर पटकने की इच्छा हो, फँस गया हूँ, ऐसा लगे। कोई हर्ज नहीं, रुके रहें। यहाँ धीरज की प्रतीक्षा है। जिज्ञासा की सचाई की, साहस की कसौटी है। अन्धकार दिखता है।

अन्धकार का प्रदेश

अन्धकार और प्रकाश की भाषा जव अहन्ता बोलती है तो उसे समझना चाहिए। जहाँ क्रिया-अक्रिया को अवकाश है उसे अहंकार प्रकाश कहेगा। उसके अभाव को अन्धकार कहेगा। वह अहन्ता की प्रतिक्रिया है, वस्तुस्थिति नहीं है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त देखा होगा–"न तत्र सदासीत् नासदासीत्।" सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, मृत्यु भी नहीं अमृत भी नहीं, दिन भी नहीं, रजनी भी नहीं है। इसे काव्य न समझें, यह रूपक या अलंकार नहीं है।

यह अहंकार की प्रतिक्रिया हैं, उस की विकलता, छटपटाहट, क्रन्दन है। उसे यदि खूव अच्छी तरह समझ लें तो विकलता को आप समस्या नहीं वनाएँगे। और उसके साथ प्रतिकार (Resistance) को जगाएँगे नहीं। पलायन भी उस घटना का प्रतिकार है। यदि यह प्रतिकार या घर्षण न हो तो फिर द्रष्टा विसर्जित होता है। अपने संचित ज्ञान, अनुभूति को लेकर चलने वाली व्यक्ति-चेतना शान्त हो जाएगी। नष्ट नहीं, लुप्त नहीं, सुप्त नहीं, शान्त।

अव व्यक्ति-चेतना और विश्वचेतना के वीच जो बड़ा महीन, झीना पर्दा था अहंकार का, वह झर गया। द्रष्टा के स्वयमेव शान्त होने पर, विश्वचेतना और

व्यक्तिचेतना का जो फ़र्क था, जी पर्दा था, वह चला गया। अब व्यक्ति व्यक्ति नहीं और व्यक्ति की अपेक्षा से जिसे विश्वचेतना कहना पड़ा था, वही है। एक चेतना का साम्राज्य है जहाँ न केन्द्र है, न परिधि। वहाँ अहं-मम कहने की गुंजाइश नहीं है।

निरहंकारिता, विनम्रता

इस प्रकार अहंभाव का समग्र विसर्जन, समग्र शान्ति यही निरहंकारिता, विनम्रता का आशय है। तब उस हाड़-मास में शून्यता ही भरी पड़ी होती है, जैसे मृदंग में दोनों ओर खाल मढ़ी रहती है। हाड़ मांस से भरा हुआ निरहंकारिता या विनम्रता का आशय वहाँ रह जाता है। देखने के लिए व्यक्ति का कलेवर है, लेकिन आशय केवल विनम्रता, केवल निरहंकारिता का रह जाता है। काव्य की भाषा में, रसिकता की भाषा में कहें तो उस व्यक्ति का जीवन फिर वंशी है, प्रभु के हाथों में जिसे वे बजाएँगे। विश्वविभु के, प्रभु-परमात्मा के हाथों में इस निरहंकारी का जीवन फिर वंशी है। यानी उस व्यक्ति के सर्वेन्द्रियों में से जो व्यक्त होगा वह उस व्यक्ति का नहीं होगा।

सत्य पर किसी का एकाधिकार नहीं

सत्य पर किसी का एकाधिकार (mcnopoly) तो नहीं है। सत्य के संबंध में कोई निहित स्वार्थ नहीं हो सकते। ये तो घटनाएँ हैं जो घटित हो जाती हैं, कभी किसी बुद्ध, महावीर, किसी ईसा के जीवन में। और वह व्यक्ति जीति-जागती सदेह घटना बनकर आप लोगों के बीच से गुजर जाता है। यह चेतना की वह अवस्था है, जहाँ अहंकार का व्यापार नहीं होता। तब विश्वचेतना उस माध्यम या वाहन में से व्यापार-शील रहती है।

तब नई प्रतिभा के उन्मेष हैं, तब लावण्य का निखर उठना हैं, तब 'सर्वमिदं विज्ञातं भवति' की अवस्था होती है। तब कौन किस पर प्रभुत्व चाहेगा? कौन किस का मालिक या गुलाम बनना चाहेगा? कौन संग्रह, परिग्रह या अपरिग्रह करना चाहेगा?

'मानव' का सर्जन

ऐसे मानव का सर्जन आज अनिवार्य है। शोषण का अन्त तब तक नहीं आएगा जब तक प्रभुत्ववादी चित्त को लेकर हम जी रहे हैं। अन्याय का अन्त तब तक नहीं आएगा जब तक 'अहं' और 'मम' के दायरे के बिना मयुष्य जी नहीं सकता। आक्रमण का अन्त तब तक नहीं आएगा जब तक बुद्धि के परिग्रह के भरोसे हम जीना चाहते हैं। यह आज आह्वान है। आज इस देश की स्थिति क्या है? हिंसा का कैसा बोलबाला है?

भारत की वर्तमान स्थिति

यह भारतवर्ष है और यहाँ सब घटित हो रहा है। आज हम जिस परि-स्थिति में से गुजर रहे हैं, उसके बारे में दिल खोल कर बतला दूँ तो व्यथा और पीड़ा के सिवा भीतर कुछ भी नहीं है। इतनी व्यथा है कि हृदय झुलस जाता है। लेकिन दूसरा कोई उपाय नहीं।

अन्य उपायों की विफलता

पश्चिम ने सब उपाय करके देखे। समाज-रचना को बदल कर देखा। विचारों के आधार पर बदल कर देखा। तलवार के बल पर बदल कर देखा। व्यक्तियों से मालकियत छीन ली, सरकार के नाम पर स्थापित की। शोषणमुक्त समाज बनाने का बड़ा पुरुषार्थ करके दिखाया। ठहर नहीं सका वह, क्योंकि शोषण की जड़ें भीतर पड़ी हैं। अन्याय, आक्रमण की जड़ें आप के और हमारे भीतर पड़ी हैं। जब तक चित्त की गुणवत्ता नहीं बदलती तब तक समाज की व्यवस्था बदलेगी कैसे? मनुष्यों को छोड़कर समाज का अस्तित्व है भी कहाँ? आप लोगों के सामने व्यथा को बाँट ले रहे हैं।

[छात्रों को तो 'ध्यान शिविर' के नाम से यही लगा होगा कि होंगी कुछ दर्शन शास्त्र की, आधितात्त्विकी (Metaphysics) की बातें। आज तो भौतिकी (Physics) के क्षितिज ही इतने व्यापक होते जा रहे हैं कि आधितात्त्विकी (Metaphysics) कहने को कुछ शेष नहीं रह गया है। 'मैटर' (भूत) ही

समाप्त होता जा रहा है। आज तो मानस व्यापार भी भौतिक तथ्य बन गया है। जैवविज्ञान और मनोविज्ञान के क्षितिज भी व्यापक बन रहे हैं।]

यह जो आप लोगों को सुबह-शाम यहाँ आने का कष्ट देते हैं उसका कारण है। मनुष्य को इस मर्यादित चेतना की कैद से उठकर एक नई चेतना के आयाम में जन्म लेना ही पड़ेगा और तब कहीं अन्याय, शोषण, आक्रमण, हिंसा से मुक्ति हो सकेगी। सामाजिक संबन्ध, सामुदायिक संबन्ध—ये तो हमारी चेतना के वितान (extension) मात्र हैं। हमारे भीतर जो पड़ा है उसी का विस्तार है। उसी का प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिम्ब से लड़कर क्या कीजिएगा ? जो कुछ करना है वह बिम्ब के साथ कीजिए। जब वह विकृत है तो प्रतिबिम्ब में विकृति उससे आने ही वाली है।

०

(ख) द्वितीय प्रश्नोत्तरी

समय—सायं ५ बजे

प्रश्न—समग्रता से श्रवण हो सके इसके लिए चित्त का निर्विकार होना अनिवार्य कहा गया है। तो क्या समागम उनका ही हो सकता है जो राग-द्वेष से मुक्त हो ? अधिकांश श्रोताओं के अन्तःकरण राग-द्वेष से उद्विग्न, हेयोपादेय की वासना से अभिभूत रहते हैं। ऐसी दशा में इस प्रकार के समागम में उन श्रोताओं का 'सेव्य' क्या है ?

उत्तर—सत्योपलब्धि, आत्मोपलब्धि की जिज्ञासा विनम्रता को जन्म देती है। जो मैं जानता हूँ वही एकमेव सत्य है, सम्पूर्ण सत्य है, ऐसा आग्रह हो तो जिज्ञासा नहीं होगी। चित्त में राग-द्वेष हो तो राग के अनुकूल और द्वेष के प्रतिकूल जो होगा, वही सेवन होगा। इस प्रकार का आग्रह हो तो जिज्ञासा नहीं रहेगी।

मान लीजिए कि चित्त निर्विकार, निर्विचार नहीं है। हम में से कितने होंगे जिनका चित्त २४ घंटे में से एक भी घंटा उस अवस्था में रहता होगा ? विचार-विकारों के बादलों से आच्छन्न नहीं रहता होगा ? लेकिन जब कहीं श्रवण के लिए जाते हैं, तो वह श्रवण यदि अहंकार की चेष्टा नहीं है, वक्ता की परीक्षा लेने यदि नहीं जा रहे हैं, न्यायाधीश बन कर नहीं जा रहे हैं, जिज्ञासु बन कर जा रहे हैं, तो जिज्ञासु की सारभूत विनम्रता अपने-आप आती है और जहाँ विनम्रता आई वहाँ उन्मुखता अपने आप प्रवेश करती है।

जिज्ञासा से विनम्रता, विनम्रता में से उन्मुखता—इस प्रकार संवेदनशीलता जागृत होती है। वक्ता और श्रोता के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यदि जिज्ञासा का सेतु हो तो वह काफ़ी है। विनम्रता होगी तो अपने राग-द्वेषों को,

निष्कर्षों को वक्ता पर थोपा नहीं जायेगा, लादा नहीं जायेगा, या उनकी तराजू में शब्दों को तौला नहीं जायेगा।

यह आवश्यक है कि जैसे श्रोता में जिज्ञासा हो वैसे वक्ता में निरहंकारिता हो। वह प्रतिपादन करने आया हो, 'मैं समझा सकता हूँ' इस अभिनिवेश के साथ आया हो, 'श्रोताओं में परिवर्तन करूँगा' इस अहंकार के साथ आया हो त जिज्ञासा जी नहीं पायेगी, मुरझा जायेगी। वक्ता की तरफ़ से संवाद की विनम्रताो और श्रोता की तरफ़ से जिज्ञासा की विनम्रता हो तो एक सम्पर्क स्थापित हो जाता है। वक्ता की विनम्रता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि श्रोता की। एक में विनम्रता हो और दूसरे में न हो तो मिलन नहीं होता, संयोग नहीं होता।

केवल श्रोता के लिये ही नहीं, वक्ता के लिये भी तो कुछ सेव्य है! वक्ता भी तो श्रोताओं के द्वारा उतना ही उपकृत होता है, जितना कि श्रोता। वक्ता भी तो कुछ पाता है। श्रोता के बिना तो वक्ता नहीं। दूसरी बात यह है कि एक ओर से जिज्ञासा और दूसरी ओर से प्रेममय निवेदन—इन दोनों के मिलन से जो पुष्प खिलते हैं वे दोनों के लिये सेव्य हैं।

वक्ता यदि यह समझता है कि मैंने जो कमाया है, जो सम्पादन किया है, उसे सजा-सँवार कर कैसे रखूँ? लोगों को खुश कैसे करूँ? उनकी अनुकूलता कैसे प्राप्त करूँ? तो घटित कुछ नहीं होगा। वक्ता द्वारा अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन हो तो ठीक है फिर लोग प्रभावित होंगे। जो प्रभावित करता है, वह असुर है, और जो प्रभावित होता है वह भी अपनी स्वाधीनता खोता है। वशीकरण का एक सौम्य प्रकार है लोगों पर प्रभाव डालना। खोज या विचार के लिये प्रवृत्त करना अलग चीज़ है, प्रभाव डालना अलग चीज़ है। जहाँ प्रभाव डालने की अभिसन्धि वक्ता के चित्त में होगी, वहाँ श्रोता की कितनी ही जिज्ञासा हो, सम्पर्क स्थापित नहीं होगा।

छोड़ दीजिये निर्विकार-निर्विचार-र्विविषय अवस्था की बात। इतना ही ध्यान रखिये कि श्रोता और वक्ता के बीच जिज्ञासा हो, संवाद की आकांक्षा हो,

मिलन के लिये विनम्रता हो, तो जो पुष्प खिलेंगे, वे दोनों के मिलन की निपज होंगे। वक्ता माने कि वे मेरे हैं तो ग़लत होगा। इस मिलन में जो खिलेंगे वे पुष्प उतने ही श्रोता के भी हैं जितने वक्ता के। वह है सेव्य, एक के लिये नहीं, दोनों के लिये।

जब कभी बोलना होता है, तो जो बोला जाता है, वह भीतर है, इसका भी हमें पता नहीं चलता। जब बाद में सुनते हैं तब पता चलता है कि यह भी भीतर था। श्रोताओं के सहयोग के बिना वह बाहर निकलता नहीं, प्रस्फुटित नहीं होता, खिलता नहीं है।

प्रश्न २—बुद्धि से परे मनुष्य निकल जाय और उसे आनन्द मिले तो फिर वह समाज में लौट कर कुछ करेगा या नहीं ? और बुद्धि से बाहर निकल जाय तो क्या वह पागल नहीं होगा ?

उत्तर—पहले समझने की बात तो यह है कि बुद्धि में रहते हुए ही आज हम पागल हैं। हमें पता नहीं है कि दिन का कितना समय हमारा पागलपन में बीतता है। जब-जब स्नायविक तनाव और रासायनिक दबाव आप के भीतर आते हैं और उनके दबाद में आप को व्यवहार करना पड़ता है, तब-तब पागलपन ही तो होता है। विकारों, आवेशों की हुकूमत आप पर चलती है तो वह व्यवहार क्या पागलपन नहीं है ? क्रोध उठा, क्रोध को उठते कभी देखा है कि कैसा तनाव पैदा करता है, खून में बिजली की कैसी लहर दौड़ा देता है, आँखों में तनाव, पेट में दबाव, नाभिकेन्द्र पर सङ्कोच लाता है ? यह सब कुछ क्रोध के उठने में होता है। उन सब तनाव-दबावों से छुट्टी पाने के लिये कुछ बोल बैठे, या उसे नजर से व्यक्त किया, इशारे से प्रकट किया। क्षणभर को भी जब सन्तुलन जाता है तो उस समय क्या व्यक्ति पागल नहीं, विक्षिप्त नहीं है ? आज तो पागलों के समाज में ही रहना होता है। दिन-भर में कुछ घण्टे आते हैं स्वस्थता के।

ईर्ष्या है, मत्सर है, क्रोध है, प्रभुत्व की लालसा है, वासना है—ये सारे के

सारे असन्तुलन पैदा करते हैं। और पागलपन क्या है ? आज बुद्धि के दायरे में रहते हुए भी मनुष्य विक्षिप्तचित्त है, असन्तुलित है। उन्माद-प्रमाद तो परिणाम है असन्तुलन का।

जब मनुष्य बुद्धि से परे निकल गया, तब क्या होगा ? अध्यात्म बुद्धिग्राह्य तो है नहीं। यहाँ तो विवेक से कुछ सन्तुलन रखते थे। आदर्श के कारण कुछ सन्तुलन पैदा करते थे। अब वहाँ कुछ भी तो नहीं है। बात ऐसी है कि यदि सचमुच मन-बुद्धि-चित्त शान्त हो जायँ तो समग्र सत्य से जो पहला साक्षात्कार होता है, उस साक्षात्कार का नशा आ जाता है।

यह असन्तुलन, यह पागलपन, यह विक्षिप्तता अलग चीज़ है। मनुष्य मस्त हो जाता है। मस्ताने लोग घूमते हैं न ! देह का भान नहीं, वस्त्र-परिधान का होश नहीं, वाणी का होश नहीं, ऐसे नशे में लोग चलते हैं। समग्र सत्य के साथ प्रथम साक्षात्कार में बहुत नशा होता है। उसे आदमी सह नहीं सकता, यदि उसके शरीर में फौलाद की शक्ति न हो। जीवन-शुद्धि का बल उसके पास न हो तो उन्माद आता है।

उस उन्माद की दशा में अटके रहते हैं फिर। उन्मत्त-से घूमते हैं। निरुपद्रवी हैं, किसी का कुछ बिगाड़ते नहीं। कभी कुछ बोल उठेंगे तो सत्य की झलक मिल जायेगी। मतलब यह है कि इस साक्षात्कार को काया, मन, वाणी सहन नहीं कर पाये। जीवन-शुद्धि का अधिष्ठान नहीं है।

कृत्रिम रीति से किसी के पास जा कर शक्तिपात कराया, कुण्डलिनी जगाई। अचेतन-अवचेतन के द्वार बलात् खोल दिये गये। तो वहाँ भी अचेतन-अवचेतन के साक्षात्कार का यही परिणाम होगा, कि मनुष्य उन्मत्त हो जायेगा।

"बालोन्मत्तपिशाचवत्" जो कहा जाता है, उसमें 'बाल' से यहाँ 'बालिश' समझना चाहिये। बालवत् नहीं, बालिशवत्। क्योंकि इनमें बहुत अन्तर है। बालवत् बिल्कुल अलग चीज़ है। बोध के चक्षु खुले नहीं हैं, सावधानता की शक्ति

जगाई नहीं गई है, और हठात् बलात्कार करके, शक्तिपात करके कुण्डलिनी को जगा दिया, तो भी उन्माद और नशा आता है।

ऐसे व्यक्तियों का समाज में कोई उपयोग नहीं। अध्यात्म है सत्य की उपलब्धि को अपनी इन्द्रियों के स्तर तक लाकर उसे परस्पर व्यवहार और सम्बन्धों में अभिव्यक्त होने देना। मनुष्य के व्यवहार व सम्बन्धों में गुणात्मक परिवर्तन की आवश्यकता है। वह यदि घटित न हो तो सत्योपलब्धि का कोई मूल्य नहीं।

साक्षात्कार हुआ और उन्माद आया, नशा आया। थोड़ा-बहुत आयुर्वेद का ज्ञान रखें कि ऐसे समय उष्णता का शमन कैसे करें, शरीर में कहाँ कैसे मालिश करें, ज्ञानतन्तुओं के साथ क्या व्यवहार करें कि उसे सहन या वहन करने की शक्ति आये। यह सब मालूम न हो, एकाङ्गी दृष्टि हो, ऐसे व्यक्तियों का व्यवहार बुद्धि से बाहर हो जाता है, परे नहीं। 'बुद्धि-बाह्य' और 'बुद्धि से अतीत'—ये भिन्न अवस्थायें हैं।

कुछ लोग हैं जो साक्षात्कार होने पर उसे वाणी तक ला पाते हैं। लड़खड़ाती वाणी कुछ कह पाती है, कुछ अनकहा रह जाता है। उन्हें रहस्यवादी (Mystic) कहा जाता है। बहुत-कुछ सूफ़ी साहित्य रहस्यवादी है।

"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" मन्त्र का दर्शन हुआ, काव्य की वाणी में उसे रख दिया। वाणी का भी नशा, शब्द का भी नशा होता है, किन्तु वह उन्मत्त नहीं बना देता। नशे की कुछ खुमारी रहती है आँख में, और जीवन में कुछ महक रहती है सत्योपलब्धि की। लेकिन उन्मत्त नहीं हैं। इसलिये वहाँ नशे में होने पर भी बुद्धि-विसङ्गत, बुद्धि-विरोधी या बुद्धि-बाह्य व्यवहार नहीं होता। यह नशा बुद्धि के तेज को कुछ बढ़ा देता है।

व्यक्ति कुछ आगे बढ़ेंगे, गहराई में जायेंगे और सत्योपलब्धि को वाणी में ला कर उसे व्यवस्थित रूप देंगे। उसी से दर्शनशास्त्र बनते हैं। लेकिन दर्शनशास्त्र लिखने वाले के जीवन में, व्यवहार में, दूसरों के साथ व्यवहार में, अपनी

इन्द्रियों से व्यवहार में गुणात्मक परिवर्तन होना अनिवार्य ही हो ऐसा नहीं है। वहीं पर योग की आवश्यकता है।

सत्य की उपलब्धि को जीवन में अवतरित करना है, समग्रता से व्यवहार में उतारना है, तब कहीं मानव-समाज बदलेगा। नहीं तो केवल बुद्धिसे बाह्य होने से, मन और बुद्धि से परे जो है, उसके दर्शन से ही काम नहीं चलेगा। उसके साथ वर्तन की अनिवार्यता है। समस्या तो वहाँ है।

भारत में तो घर-घर में ब्रह्मज्ञान पड़ा है। व्यवहार में ही कहीं उसका पता नहीं है। क्योंकि वह विषय बुद्धि का, वाणी का, ज्ञान का माना गया, व्यवहार का नहीं माना गया। अध्यात्म यदि जीवन-परिवर्तन नहीं करता तो मेरे लिये उसका कोई मूल्य नहीं।

सत्योपलब्धि हुई और व्यक्ति दिन में दस बार असन्तुलित होता है, क्रोध में गाली बकता है, शिष्यों को मारता-पीटता है तो मैं उसे समग्र सत्य की उपलब्धि नहीं मानूँगी।

वाणी में व्यवस्थित रूप से, तर्क-अनुमान की मदद से, दर्शन के रूप में सत्योपलब्धि को ग्रथित करके रखा, लेकिन उससे भी आगे बढ़ना है। जो साक्षात्कार हुआ, दर्शन हुआ, वह जिया जा सकता है, सब लोग उसे जी सकते हैं—यह दिखाना है। नहीं तो उपलब्धि किस काम की? उपलब्धि तो है जीवन-परिवर्तन के लिये। 'यह मेरा एकाधिकार है', 'मेरा निहित स्वार्थ है', 'दूसरा कोई वहाँ जा नहीं सकता'—इस प्रकार की असाधारणता, असामान्यता की कोई संगति नहीं।

मानव के विकास की परिपूर्णता इसी में है कि वह मन और बुद्धि की मर्यादाओं के पार जाए और चेतना के एक नये आयाम में प्रतिष्ठित हो। हर मानव को वहाँ जाना है। मानव का जन्म हुआ है, इसलिए निर्विकार, निर्विचार, निर्विषय अवस्था यानी चित्त के स्वास्थ्य की अवस्था में रह कर मन, बुद्धि, वाणी, काया का उपयोग करने के लिए हम पैदा हुए हैं। मन और तन

की गुलामी में अपने आपको घसीटने के लिए नहीं। उसमें सड़ने के लिये नहीं। यह तो हर मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

इससे आगे बढ़ कर फिर सत्योपलब्धि की उत्कटता को, समग्रता को, दिव्यता-भव्यता को समग्रता में जीना पड़ता है। उसका अवतरण ऐन्द्रिय स्तर पर होना चाहिये। आहार, विहार, निद्रा, वाणी सब में उसका गुणात्मक परिवर्तन जब आता है तब जो बुद्धि के परे देखा गया उससे नया प्रसाद, नया संतुलन आता है, जो किसी विवेक के आधार पर खड़ा नहीं होता। नीतिशास्त्र, धर्मग्रंथों के आधार पर खड़ा नहीं होता। जिस व्यवहार का सन्तुलन किसी बाह्य आधार पर खड़ा है, वह सन्तुलन परायत्त है, स्वायत्त नहीं। उधार लिया हुआ है। उससे जीवन में प्रसाद नहीं आता।

प्रसाद तो वह है जो नस-नस में, रग-रग में, खून के कतरे-कतरे में घुल-मिल गया हो। उस व्यक्ति की श्वासोच्छ्वास-क्रिया भिन्न होगी। उसके रक्त-गोलकों की जाँच कीजिये, हृदय की गति का कार्डियोग्राम लीजिये, सर्वत्र फ़र्क आयेगा। अवस्थान्तर है न! बालक जवान हुआ तो जवानी में तो वह नजर नहीं जो बालपन में थी, श्वासों की गति त्वरित है, अभिरुचि बदल जाती है। उसी प्रकार मन-बुद्धि से परे जाने पर जो समग्र विकास (total growth) होगा, अवस्थान्तर होगा, उसका प्रसाद ऐन्द्रिय स्तर पर उतर आएगा। उसकी ताज़गी, सौरभ व्यवहार में न दिखे तो व्यक्ति कितना भी बोले, विश्वास न कीजिएगा। जो अवस्था व्यवहार में नहीं आती वह अवस्था नहीं है। वह कल्पना का विलास है, वाणी का श्रृंगार है। जीवन का तथ्य नहीं। जरूरत तथ्य की है।

नव-मानव का सर्जन पुरुषार्थ का विषय है। जीना पुरुषार्थ का विषय है यह जो पहले दिन कहा गया था, उसका अभिप्राय यही है। इसलिए बुद्धि से परे जाने के बाद यदि नशे और आनन्द में खो गए तो उपलब्धि आंशिक है, समग्र नहीं। बुद्धि से परे जाने के बाद सन्तुलन खो गया तो व्यक्ति शून्यावस्था में अटक गया है। गुणात्मक परिवर्तन हो तो ऐसा नया प्रसाद जीवन में अव-

तरित होगा कि व्यवहार बदल जाएगा। उस व्यक्ति के हाथ-पाँव फिर उस अवस्था के अंकुर हैं। उसकी इन्द्रियाँ फिर शान्ति की रश्मियाँ हैं। उसके स्पन्दनों में से, उसकी उपस्थिति में से ही आनन्द, शान्ति, प्रेम जो कुछ कहिए सब उपलब्ध होता है।

इसलिए बुद्धि-बाह्य व्यवहार, बुद्धि से अतीत व्यवहार, विवेक के आधार पर सन्तुलन और स्वयम्भू सन्तुलन और प्रसाद—इन सबके भेद को बहुत सूक्ष्मता से देखना आवश्यक है।

[इसी सभा में कुछ प्रश्नोत्तर अंग्रेजी में हुए थे। उन्हें अंग्रेज़ी खण्ड में यथास्थान देखें—संपा०]

: ४ :

दिनांक—२०-२-७१ समय—प्रातः ९ बजे

(क) चतुर्थ प्रवचन

आज जिस विषय में कुछ कहने की प्रवृत्ति हो रही है वह नितान्त गहन, गम्भीर है। वक्ता और श्रोता दोनों की एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है, ताकि कोई भी शब्द गलतफहमी पैदा न करे। विषय है—अध्यात्म में गुरु की आवश्यकता है या नहीं। सनातन विषय है।

गुरु-शिष्य-संबन्ध

भारतवर्ष में ये दो शब्द—गुरु और शिष्य इतने प्रचलित हैं कि प्रचलित से परिचय पाने का भी कोई कष्ट नहीं करता। गुरु-शिष्य कोई संवन्ध है दो व्यक्तियों का? गुरु क्या है, शिष्य किसे कहा जा सकता है? ये दो भिन्न अवस्थाएँ हैं या एक ही अवस्था के दो नाम हैं? व्यक्तियों के सहवास में अवस्थाओं का सहवास और संयोग घटित होता है या नहीं? यदि नहीं, तो संबन्ध के कलेवर का जतन करने से कुछ निष्पन्न होता है या नहीं? इन बातों को कोई देखता नहीं है।

संबन्धों के कलेवर

भारतवर्ष में जन्म होना दुर्लभ है, लेकिन हमें उस दुर्लभता का भान नहीं है। यहाँ जो दर्शन उपस्थित है उसका जीवन के साथ क्या अनुबन्ध है यह देखा नहीं जाता। परम्पराएँ यानी संवन्धों के कलेवर पड़े हैं—निष्प्राण, निस्तेज, अर्थहीन।

आज के प्रभात में इस पर कुछ आत्मनिवेदन स्नेही जनों से करना चाहते

हैं। 'सख्यमात्मनिवेदनम्' । आत्मनिवेदन सख्य का शील है। यहाँ तीन दिन तक संवाद चला, तो आप सब हमारे स्वजन हो गए, सखा हो गए।

शिष्य कौन ?

गुरु किसे कहेंगे ? शिष्य कौन है, इसका पता चले तो शायद गुरु किसे कहते हैं, इसका भी पता चले। शिष्य एक अवस्था है। जिज्ञासा का दृष्टिकोण, जिज्ञासा की वृत्ति जब रक्त के बिन्दु-बिन्दु में घुलमिल जाती है तो जो अवस्था संचारित होने लगती है वह शिष्यत्व है। यदि जिज्ञासा एक घड़ी जीवित है और फिर मृत हो गई तो शिष्यत्व भी एक ही घड़ी का था। जिज्ञासा का प्राणवन्त रहना, जीवित रहना और आप की समग्रता में उसका संचार होना क्या खेल है ? कल कहा था कि जिज्ञासा का संबन्ध सारे जीवन से जोड़ा जाता है, तब साधना होती है। तो, जितने समय सत्य जानने की जिज्ञासा जागृत है, और उस जिज्ञासा को अपने समग्र जीवन के साथ जोड़ने का साहस है उतने समय तक शिष्यत्व की अवस्था है। उससे अधिक नहीं। यह कोई मान ले कि जीवन भर के लिए हम शिष्य हो गए, भूल है ! भ्रम है !

जिज्ञासा सत्य के प्रति हो सकती है, व्यक्तियों के प्रति नहीं। शिष्यत्व किसी व्यक्ति के प्रति नहीं हो सकता। जीवन के जो चरम सत्य हैं, उनके प्रति ही जिज्ञासा हो सकती है। उनकी उपलब्धि के लिए ही साधना हो सकती है। शिष्यत्व का संबन्ध सत्योपलब्धि से है, व्यक्तियों से नहीं। व्यक्तियों की अनुभूतियों, अभिव्यक्तियों, जीवन-पद्धतियों के साथ अपनी जिज्ञासा को जो बाँध देते हैं, उनकी शिष्यत्व की अवस्था समाप्त हो जाती है।

सत्य निरपेक्ष, अभिव्यक्ति सापेक्ष

व्यक्ति कितने ही महान् क्यों न हों, आखिर व्यक्ति हैं। संस्कार की भूमि में उनके चित्त के कदम जड़े हुए हैं। सत्योपलब्धि भी उनके द्वारा व्यक्त होगी तो उनके संस्कारों के अनुरूप होगी। जिस धरती में वे पाले-पोसे गए हैं, उसके अनुरूप अभिव्यक्ति होगी। जैसे मिट्टी में साग-सब्ज़ी पैदा होते हैं, वैसे ही संस्कार-

भूमि में अभिव्यक्ति के फूल खिलते हैं। उपलब्धि निरपेक्ष होगी, अभिव्यक्ति सापेक्ष हो जाती है और अभिव्यक्ति के साथ जो अपने आप को बाँध लेता है, उसकी जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। अभिव्यक्तियों के फिर आग्रह होते हैं, उनके प्रचार के प्रयास होते हैं। उनमें से संप्रदायों की स्पर्धा का जन्म होता है, तुलना का प्रलोभन होता है और फिर यह सारा-का-सारा वातावरण चेतना को कलुषित बना देता है।

शिष्यत्व व्यक्ति के प्रति नहीं

इसलिए शिष्यत्व किसी व्यक्ति के प्रति नहीं हो सकता। अभिव्यक्ति हमेशा देश, काल, संस्कार के अनुसार होगी। उपलब्धि निरपेक्ष है और अभिव्यक्ति सापेक्ष है, इस भेद को बहुत बारीकी से देख लेना चाहिए। जिज्ञासा की जीवन्त अवस्था है शिष्यत्व। यह क्या कोई पूरे समय का धन्धा (fulltine occupation) है? किसी व्यक्ति की खूँटी पर अपने को बाँध दिया, टाँग दिया, हो गए शिष्य। इतना आसान नहीं। जिज्ञासा २४ घंटे जागृत रहे तो आपको बैचैन बना देगी। चैन से साँस नहीं लेने देगी।

कायिक, वाचिक, मानसिक जो-जो व्यापार दिनरात होते रहते हैं, उनमें जिज्ञासा आपको टोकती रहती है। निरन्तर जागृत करने वाला कभी प्रिय नहीं होता। साल में एक-दो दिन के लिए कोई आए तो ठीक है। और जिज्ञासा तो निरन्तर प्रज्वलित अग्नि है। वह शूल है जो आप के उर में चुभा रहेगा, गड़ा रहेगा और बेचैन बना देगा। आप के प्रत्येक व्यवहार का वह अलग अर्थ लगाना चाहेगा। वह तो ऐसा बाण है कि जिसके उर में लग गया उसे चैन से बैठने नहीं देगा। "कह कबीर सोई नर जागा, शबद बाण उर अन्तर लागा।"

जिज्ञासा में से उन्मुखता, विनम्रता

शिष्यत्व के अर्थ को, आशय को खूब अच्छी तरह समझ लें और वह कितना समय अपने भीतर जागृत रहता है, यह देख लें। जिज्ञासा जागृत रहे तो उन्मुखता अपने आप उसमें से निपजती है, उसे पैदा नहीं करना पड़ता। और उन्मुखता है तो विनम्रता उसके साथ जुड़वाँ बहन की तरह लगी चली आती है।

उन्मुखता और विनम्रता लगभग एक ही घटना के दो नाम हैं। कह दूँ कि विनम्रता उन्मुखता का सौरभ है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। वह साथ चलती ही है।

गुरु एक पद है

गुरु एक पद है, चेतना की एक अवस्था है। अज्ञान ही नहीं, ज्ञान नाम की वृत्ति भी जहाँ से शान्त हो गई है, संस्कार-अनुभूति निःशेष हो गई हैं, धुल गई हैं, जिसकी चेतना एकदम अनावृत है, ज्ञान-संस्कार-अनुभूति के परिधान उतर गए हैं, ऐसी चेतना में निरन्तर जिसका वास है वह गुरु-पद में प्रतिष्ठित व्यक्ति है। व्यक्ति का नाम गुरु नहीं हो सकता। आज तो बाजार में गुरु खरीदे जा सकते हैं। उस अवस्था में जीने वाला, उसे देखने वाला नहीं, उसका वर्णन करने वाला नहीं, गुरु पद में है। अहं-मम का द्वन्द्व जहाँ नहीं है, ऐसी चेतना में जो निरन्तर प्रतिष्ठित है, वह 'गुरु' पद में है। वहीं से उसका दर्शन, वहीं से श्रवण, वहीं से प्रतिसाद, वहीं से व्यवहार है। वह चेतना की अवस्था ही व्यवहार में उतरती है उस व्यक्ति के माध्यम से।

चेतना की दो अवस्थाओं का मिलन

'गुरु'–चेतना की अवस्था और विशुद्ध जिज्ञासा का मिलन जब होता है, तब कुछ घटित होता है। नहीं तो, हाड़-मांस के व्यक्ति जनम भर साथ रहें, उसमें से कुछ निकलता नहीं। क्योंकि वहाँ सम्पर्क है तो पात्रों का है, उनके भीतर जो दशा या अवस्था है, उसका संयोग नहीं, मिलन नहीं होता। जितना समय जिज्ञासा जागृत हो उतने समय का सत्संग ही कुछ काम देता है।

सत्संग की भी परम्परा बने, सान्निव्य-सहवास की भी परम्परा बने तो परंपरा तो निष्प्राण ही है। निर्जीव कलेवर है।

जीना सिखाया नहीं जा सकता

जिस व्यक्ति की चेतना में से अहं-मम-भाव निःशेष हो गया है, वह कभी कहेगा कि "मैं गुरु हूँ, मार्गदर्शक हूँ, सिखा सकता हूँ। आओ मेरे पास। यह मेरा मार्ग है।" ऐसा वह कह सकेगा ? कहने वाला वहाँ है कौन ? जीवन जीना

कोई हठयोग का अभ्यास है कि सिखाया जाएगा ? कोई तन्त्र-मन्त्र है, कौल-पद्धति है, वाममार्ग है जिसकी कोई प्रक्रिया होगी ? कोई संगीत है जिसका तन्त्र होगा, जो सिखाया जाएगा ? यह तो सहजता की लीला है। इसे सिखाया कैसे जाएगा ? कल कोई कहे कि प्रेम कैसे करें यह भी सिखा दो। प्रेम सिखाया कैसे जाए ? आनन्द लूटना सिखाया नहीं जा सकता। जीवन जीना सिखाया कैसे जाए ?

योग-गुरु, मन्त्र-गुरु

हाँ, योग-गुरु, मन्त्र-गुरु हो सकते हैं। वहाँ गुरु शब्द का अर्थ अलग है। जहाँ तन्त्र है, कुछ प्रक्रिया है, जिसका सम्बन्ध शरीर से है, मन से है, उनके विनियोग से है, उनका सिखाना सम्भव भी है। लेकिन जहाँ चेतना की अवस्था सम्पूर्णतया निरहंकार हो वहाँ 'मैं सिखाता हूँ' यह वृत्ति धारण करने के लिए भी तो कोई नहीं है।

'गुरु' के साथ संबन्ध असंभव

'गुरु'—चेतना में प्रतिष्ठित व्यक्ति को आप सम्बन्ध में बाँधेंगे कैसे ? उस व्यक्ति के साथ 'सम्बन्ध', 'सम्यक् बन्ध' कैसा ? सम्यक् रीति से बाँधेंगे कैसे ? दैहिक सम्बन्ध, मानसिक सम्बन्ध, भाव-सम्बन्ध समझ में आ सकते हैं। उनका निर्माण हो सकता है। उनका जतन और संरक्षण हो सकता है। प्रेम में सम्बन्ध कैसा ?

सम्बन्ध में एक प्रकार की स्थिरता चाहिए। एक प्रकार की सुरक्षा, सातत्य अभिप्रेत हैं। वहाँ सातत्य किसके साथ होगा जहाँ निरन्तर गतिशीलता है। गंगा में एक बार हाथ डाला तो जिस जल से स्पर्श हुआ, अगले क्षण हाथ डालने पर उस जल से सम्बन्ध नहीं। वह तो गया। सान्त से अनन्त की ओर गति में वे जलबिन्दु तो गए जिनके साथ पलभर पहले आपका सम्बन्ध था। अब वे वहाँ नहीं हैं। आप समझते हैं कि उसी गंगा में हाथ डाला। वह तो भ्रम है। वह तो गई। उसके पास समय नहीं कि सान्त में पलभर भी रुके। इसी प्रकार वहाँ

निरन्तर गतिशील चेतना है। सुबह जो मिला था, वह वहाँ साँझ को नहीं मिल सकता। जो रात्रि में मिला वह प्रभात में नहीं मिलेगा। वह तो निरन्तर गतिशील है। जीवन की अनन्त गति वहाँ है। सम्बन्ध किसके साथ होगा ?

'यह मेरा गुरु', 'मेरा मार्गदर्शक'—इस प्रकार अपने ममत्व के दायरे में उसे लाएँगे कैसे ? लेकिन हमारी कोशिश है कि हम गुरु करेंगे, उसको ममत्व के घेरे में लाएँगे, उन पर भी हमारा स्वामित्व होगा। जैसे दैहिक सम्बन्ध हैं, वैसे ही वहाँ भी हम सम्बन्ध पैदा कर लेते हैं। जहाँ सम्बन्ध है वहाँ माया है। जहाँ सम्बन्ध है वहाँ बन्धन है।

मिलन में से कुछ घटित होगा

पलभर के लिए मिलन हो और उस मिलन में से कुछ घटित हो इतना ही हो सकता है। उस मिलन में से जो घटित होगा, वह न गुरु का है, न शिष्य का है; न अनुभूति का है, न जिज्ञासा का है। दोनों के मिलन का है। बड़ी सूक्ष्मता में जाना होता है। तब पता चलता है कि इन अवस्थाओं के मिलन का काव्यात्मक, रूपकात्मक वर्णन है। जैसे मनुष्य ने प्रतीकों को पकड़ लिया, देश और काल को सत्य मान लिया, वैसे ही इस संयोग और मिलन को सम्बन्ध मान लिया। मिलन और सम्बन्ध में अन्तर है।

हिन्दुस्तान में अध्यात्म का नाम लेते ही यह गुरु-शिष्य-सम्बन्ध सामने आ जाता है। बड़ी गहरी जड़ें हैं इसकी। हमारी हड्डियों में, मज्जा में उसकी बात पड़ी हुई है। इसीलिए सोचा कि इस बारे में जो हमारा देखना है उसे रख तो दें आप लोगों के सामने।

सम्बन्ध में गति का अवरोध

जिज्ञासा में भी निरन्तर गतिशीलता है। वह रुक नहीं सकती, ठिठक नहीं सकती। और मन, बुद्धि के परे जो चेतना का आयाम है वहाँ प्रेम की, संवेदनशीलता की, प्रज्ञा की निरन्तर गतिशीलता है। वहाँ भी रुकना नहीं है। सम्बन्ध रुकने वालों में होते हैं या बहने वालों में भी होते हैं। लेकिन जीने वालों में

सम्बन्ध कैसे ? जीने वालों में सम्बन्ध का निर्माण यानी दोनों की गति को रोकना हुआ। अटपटी-सी बात है।

बाहर गुरु की खोज अनावश्यक

जिज्ञासा का प्रारम्भ होते ही और साधना के प्रारम्भ में ही मनुष्य बाह्य जगत् में गुरु की खोज करने लगता है। हमारे देखे वह अवैज्ञानिक है। जिज्ञासा जागृत हुई। चरम सत्य क्या है, यह खोजना चाहते हैं। लेकिन साथ ही—'कौन हाथ पकड़ेगा, किसके पास जाऊँ, कौन बताएगा'—ये प्रश्न उठने लगते हैं। जिज्ञासा की गति से अधिक चिन्ता इस बात की है कि हाथ कौन पकड़ेगा, सुरक्षित कौन रखेगा, कौन मुझे सँभालेगा। गुरु की खोज सत्योपलब्धि के लिए नहीं, सत्योपलब्धि में सुरक्षा मिले इसके लिए है। चलो ढूँढो। समाज में कितने विदित हैं, चलो उनके पास।

जिज्ञासा की उत्कटता ही एकमात्र आवश्यकता

सत्योपलब्धि के लिए जिज्ञासा की उत्कटता के सिवाय कुछ भी जरूरी नहीं है। जिज्ञासा में उत्कटता होने पर जैसे चुम्बक लोहे को खींच लेता है, वैसे ही जहाँ भी जिज्ञासा की पूर्ति होने की सम्भावना होगी, जहाँ भी अनुभूति का भण्डार होगा वहाँ वह खींच लेगा। उसकी चिन्ता नहीं। लेकिन हमें तो चिन्ता है कि मैं अपना गुरु खोज लूँ, उससे सम्बन्ध स्थापित करूँ। संसार में से उठा हूँ तो और कहीं बैठ जाऊँ। लेकिन साधक के पास बैठने को समय नहीं है।

गुरु की खोज क्यों और कैसे ?

हम गुरु की खोज किस लिए करते हैं, यह समझ लेना चाहिए। उसमें कौन-कौन सी वृत्तियाँ काम करती हैं, उन्हें देख लेना चाहिए।

[यह जो रूढ़ि है गुरु की खोज की, उसीका हम यूरोप, अमेरिका में निर्यात कर रहे हैं। वहाँ के लोग तो ऊब गए हैं; ऐन्द्रिय सुखों की मर्यादा उन्होंने देख ली है। मन से परे जाने की भूख जाग उठी है। हिन्दुस्तान से जो भी साधु-संन्यासी जाता है उसे पकड़ लेते हैं। सोचते हैं पैसे से इनकी अनुभूतियाँ खरीद

लेंगे। वे खरीदने वाले हैं, ये बेचने वाले हैं। खूब धन्धा चलता है। उन लोगों की बातें सुन कर लज्जा और शर्म से झुलस जाना पड़ता है। अच्छा हो कि भारत-सरकार ऐसे लोगों को बाहर जाने ही न दे। भले ही वहाँ के लोग बेचारे भौतिकता में पड़े रहें। लेकिन इस तथाकथित अध्यात्म का निर्यात करने में न हमारा भला है, न उनका। दोनों का बड़ा नुकसान है। यहाँ से वहाँ जा कर 'गुरु' बनने वालों में इतना कहने की भी विनम्रता नहीं है कि "हम मन्त्र या दीक्षा दे सकते हैं, या हठयोग की दो-चार क्रियाएँ सिखा सकते हैं, अतीन्द्रिय शक्तियाँ जगा सकते हैं, यह हमारी मर्यादा है। लेकिन यह अध्यात्म नहीं है, यह मानस, अतिमानस क्षेत्र की लीला है। यह न समझो कि यह गुरु-शिष्य कोई संबंध है।" इस प्रसंग में ऐसी लज्जा भरी बातें हैं कि उनका एक अंश भी आपको बता दूँ तो आप अवाक् रह जाएँगे।]

तो हम जो बाहर खोज करने निकलते हैं कि हम गुरु की ढूँढेंगे, उसमें वैज्ञानिकता नहीं है। खोज बाहर नहीं, भीतर होनी चाहिए। बाहर खोजने जाएँगे तो खोजते समय जिज्ञासा के प्रति आपका कोई तात्कालिक कारण हो, जीवन में कोई निराशा, हताशा का प्रसंग आया हो, ऊब गए हों, संकटों के कारण दब गए हों—उन कारणों का, दबाव-तनावों का समाधान जहाँ होगा, वैसे व्यक्ति की खोज आप करेंगे। भावनात्मक क्षोभ है तो आपकी भावना को संतुष्ट करने वाले व्यक्ति के पास आप जाएँगे। आपको संतुष्ट करने लायक अभिव्यक्ति जहाँ होगी वहाँ आप जाएँगे। और जो भावनात्मक संतोष मिलता है उसी को आप प्रसाद समझेंगे।

वैचारिक दृष्टि से असन्तुलित हैं, निराश हो गये हैं सभी विचारधाराओं से, जीवन-पद्धतियों से, नई पद्धति खोजने जा रहे हैं; तो जहाँ आपके मन-पसन्द एक पद्धति है, क्रिया है, विचारधारा है, जो आपके मन को कम से कम सदोष और अधिक से अधिक निर्दोष दिखती है, उसी पद्धति में जाने के लिये आप सम्बन्ध कायम करेंगे कि यह हैं मेरा गुरु और मैं बना हूँ शिष्य, और मेरे आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ है।

जिज्ञासा और सुरक्षा

यह नहीं होता है जी! अध्यात्म इतना आसान नहीं है। यह खेल नहीं है

बच्चों का। शिष्यत्व इतनी आसानी से नहीं प्राप्त होता। फिर सुरक्षा के लिये उन (गुरु) पर निर्भर होते हैं, उनके आश्रित बन जाते हैं। मानसिक और बौद्धिक दृष्टि से, उस निर्भरता को, आश्रय को शरणगति समझते हैं। मैं कैसे कहूँ कि यह आलोचना नहीं, ये तो व्यथा के, खून के आँसू हैं आपकी बहिन के। शरणागति और प्रपत्ति, अहंविसर्जन इतना आसान है? सुरक्षा पाई और सुरक्षा के बदले में निर्भरता, उन पर आश्रित होना धर्म समझते हैं। वैयक्तिक जिज्ञासा और सुरक्षा,—ये एक-साथ कैसे रह सकते हैं?

सुरक्षा और यात्रा

अध्यात्म में एक-एक कदम बढ़ना है, तो सुरक्षा का लंगर खोल देना होगा, छोड़ देना होगा। नौका किनारे से बाँध कर भी रखेंगे और चलाना भी चाहेंगे, सागर में यात्रा भी करना चाहेंगे। दोनों कैसे? तट पर नौका बाँध कर सागर की यात्रा नहीं होती है। सान्त व ज्ञात में अपना लंगर डाल कर अज्ञात व अनन्त की यात्रा नहीं हो सकती। सुरक्षा की खोज है तो मानसिक, सान्त, सुरक्षित, मर्यादित ज्ञात में बैठे रहें आराम से। उसमें सुख मिलता हो तो सुख लें। सुख-दु:ख के खट्टे-मीठे फल खाते-खाते ज़िन्दगी गुजार देनी है तो गुजार लें। लेकिन वह अध्यात्म नहीं है, इतना ज़रूर समझ लें।

सत्य में सान्त्वना नहीं

बौद्धिक आकांक्षा से या मानसिक कुछ सांत्वना पाने के लिये सत्य-जिज्ञासु होने आते हों तो समझ लें कि सत्य-पथ कभी सान्त्वना नहीं देता। तो हमारे पीड़ित दु:खी चित्तों को और थकी-माँदी, हारी, बुद्धि को सान्त्वना मिले इसके लिये व्यक्ति ढूँढेंगे और मिलेंगे भी; वहाँ वैसी सान्त्वना लेनी हो तो लेलें। बहुत से शरणस्थान या पागलखाने होते हैं, मानसिक, बौद्धिक असन्तुलनों व विक्षोभों को विश्राम देने के लिये, वैसे ही आश्रम भी होते हैं। ये भी क्या पागलखाने नहीं हैं? कहूँ तो आपको सुनने में भी कष्ट होगा कि ये आश्रय खोजने वालों के आश्रम हैं। वहाँ अध्यात्म नहीं, साधना नहीं।

जिज्ञासा ही एकमात्र चिन्ता

अपने भीतर जिज्ञासा की अग्नि को जलने देना, प्रखर होने देना, ओत-प्रोत होने देना पूरे जीवन में, झुलसते रहना उस अग्नि में—यह पुरुषार्थ यदि घटित हो तो जहाँ जिज्ञासा की पूर्ति हो सकती है, ऐसे व्यक्ति जीवन आपके दरवाजे पर लायेगा, या जीवन-प्रवाह आपको उसके पास ले जायेंगे, पता नहीं कैसे वह मिलन घटित होगा। वहाँ कोई तर्क या गणित नहीं, जो समझा सके कि यह कैसे घटित होता है। पर यह देखा व जिया गया है कि यह घटित होता है। जिज्ञासा की परिपक्वता में अनुभूति से मिलन होने ही वाला है। या फिर जिज्ञासा परिपक्व हो कर स्वयं में विस्फोट पायेगी। वही प्रकाश बनेगी। इसलिये उसकी चिन्ता हम न करें। जिज्ञासा को जीवन की समग्रता के साथ जोड़ने का पुरुषार्थ-भर करें। पहले जागृति के व्यवहार के साथ जोड़ना पड़ता है, फिर निद्रा, स्वप्न व सुषुप्ति के व्यवहारों के साथ जोड़ना पड़ता है। जितने भी चेतना के स्तर हैं, उनके साथ जिज्ञासा को जोड़ना पड़ता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि खोज करके गुरु उपलब्ध नहीं होते। क्योंकि खोजेगा मन, खोजेगी बुद्धि, अभिलाषा खोजेगी। उसमें खतरा हो सकता है कि जो अध्यात्म के नाम से व्यापार करते हैं, उनके शिकार आप हो जायें। ठीक है, सच्ची जिज्ञासा हो तो शिकार होने पर भी दो-चार ठोकरें खाकर मनुष्य सीधे रास्ते पर आ जाता है। यह भी होता है।

परमार्थ के नाम से नया संसार

हाँ, तो वहिर्मुखी दृष्टि से मार्गदर्शक की खोज में हम न निकलें तो अच्छा; नहीं तो जिज्ञासा पर से दृष्टि हट जायेगी, जिज्ञासा से अनुसन्धान तक का पुरुषार्थ छूट जायेगा, और एक नया पसारा परमार्थ के नाम पर, एक नया संसार खड़ा होगा। घर का मोह बुरा है, आश्रम का मोह रखते हैं—तो क्या यह वांछनीय है ? वह माया नहीं ? वन्धन नहीं ? मेरा पति, मेरा भाई, मेरे माता-पिता—यह वन्धन है, और मेरा गुरु, मेरे गुरुभाई ? वहाँ फिर ईर्ष्या का,

स्पर्धा का खेल है। वहाँ क्रोध, आक्रमण आदि आदि सभी विकार ले जाते हैं। तो, चूना-पत्थर-सीमेण्ट कोई अलग नहीं पड़ता है उन और इन दीवारों में।

इसलिये परमार्थ के नाम से, अध्यात्म के नाम से दूसरा एक संसार हम खड़ा न करें, उसमें न फँसें। वह बड़ा पुण्यमय संसार लगता है, जो जल्दी छूटता नहीं। वह सोने की दीवार है जो बड़ी प्यारी लगती है।

जिज्ञासु कभी अकेला नहीं

"हम गुरु की खोज न करें, मार्गदर्शक की खोज न करें, केवल जिज्ञासा को उत्कट बनायें तो क्या हम अकेले नहीं पड़ जायेंगे ? संसार इतना विकट है, वातावरण इतना दुष्ट है, कोई समझता नहीं, नासमझदारों के बीच रहना होता है तो पहले तो लोग हँसेंगे और कहेंगे कि इस व्यक्ति को क्या हो गया है ? विरोध, आलोचना करेंगे। सहयोग करना तो दूर रहा, विघ्न डालेंगे हमारे पथ में, तो हम एकाकी नहीं पड़ जायेंगे ?" यह सवाल उठ सकता है। इस पर कहना चाहती हूँ कि जिसने सत्य की ओर अपनी दृष्टि डाली है, ऊर्ध्वदृष्टि कर के जीवन का चरम सत्य क्या है यह देखना है—ऐसी इच्छा (नहीं, इच्छा शब्द कुछ क्षीण पड़ जाता है) ऐसी लालसा, वासना (Passion, urge) कह दूँ (वासना शब्द को भी शुद्ध अर्थ में लें, विकृत अर्थ में नहीं), ऐसी एक वासना जाग उठे भीतर, तो सत्योन्मुख व्यक्ति कभी अकेला पड़ता नहीं।

कहीं एक महाराष्ट्र के मध्यम स्थिति के परिवार की एक कन्या, कहाँ उसके पास साधन ? कहाँ उसके पास कोई ऐश्वर्य या मदद करने वाला कि सन्तों से, अनुभवियों से मिलना होता। कुछ भी नहीं था जिज्ञासा के सिवा। लेकिन जिस समय, जिज्ञासा के जिस स्वरूप की पूर्ति होने की ज़रूरत थी, जीवन ठीक उस व्यक्ति से मिला देता। उतना उससे इशारा मिला कि आगे बढ़े। यह भारत में और जिसे आप विदेश कहते हैं (हमारे लिये तो विदेश है नहीं) वहाँ भी यही देखा गया। अतः यह निश्चित है कि समग्र जिज्ञासा कभी आप को एकाकी न छोड़ेगी। जिज्ञासा की गम्भीरता व उत्कटता आप का

अवसरों व व्यक्तियों से संयोग अवश्य करा देगी जो कदम बढ़ाने में आपकी सहायता कर सकें।

जिज्ञासु अकेला रह ही नहीं सकता। इसका कारण है। शराबी को गन्ध मिल जाती है कि शहर में कहाँ-कहाँ शराबी हैं, डकैती वालों का आपस में परिचय हो जाता है, समान-शील वालों का सख्य हो ही जाता है। कुछ प्रवाह हैं वातावरण में; आप के चित्त में जो विचार, विकार उठा, जो स्मृति जागृत हुई, उसका एक स्पन्दन है जो भीतर पैदा होता है, बाहर फैलता है। भीतर-बाहर यह आप के देखने की मर्यादा है, जीवन में भीतर-बाहर नहीं है। तो, यह स्पन्दन पैदा हुआ, फैला आकाश में, घटाकाश में फैला तो चिदाकाश में भी फैला। अनन्त प्रवाह हैं जो फैलते रहते हैं। वहाँ उन प्रवाहों के आकर्षण से फिर उचित व्यक्तियों से, उचित आह्वानों से, सुयोग्य परिस्थितियों से मिलना हो जाता है। कहीं आप अकेले नहीं हैं।

आप के भीतर जो व्यापार चलते हैं, वे फैलते हैं। जीवन में कुछ भी तो अदृष्ट नहीं, अस्पृष्ट नहीं रह जाता। वे (व्यापार) घटित हुए कि विश्व के साथ उनका सम्बन्ध घटित हो गया। सद्विचार हो या दुर्विचार, सदाचार हो या दुराचार, जो भी आप में घटित होगा वह फैलेगा। तो जैसे मछली जल में रहती है, वैसे ही अनन्त विकारों, विचारों, स्पन्दनों के अनन्त प्रवाहों के सागर में हम रहते हैं। यह न समझें कि हमारे भीतर स्पन्दनों की जो अतिसूक्ष्म गति है वह बाहर सागर को स्पर्श न करेगी। ये आघात-प्रत्याघात चलते रहते हैं।

तो सत्योन्मुखता हुई, जिज्ञासा को सारे जीवन के साथ जोड़ने का साहस हुआ, और आप अकेले रह गये—यह नहीं हो सकता। हाँ, कहाँ से सहयोग मिलेगा इसका कोई गणित आप की बुद्धि के पास नहीं है। आप कहेंगे कि आप के दैहिक सम्बन्धियों से ही मदद मिले क्योंकि वहीं पर आप का 'अहं', 'मम'-भाव है। जिज्ञासा सत्य की रखेंगे और रिश्तेदार ये हैं। आप चाहते हैं कि ये मुझे समझें, ये मेरे साथ सहयोग करें। लेकिन जिस दिन जिज्ञासा आप के भीतर जाग उठी, उसी दिन से आप सत्य-शोधकों के परिवार के हो गये हैं। यह दैहिक कुल,

भौतिक परिवार तो आप का नहीं रह गया। प्रारब्धवश वहाँ रहना है और सुयोग्यता से, सुमधुरता से रहना है। जो भी कर्तव्य है सब करना है। लेकिन उसमें से अपेक्षा का सम्बन्ध छूट जाना चाहिये। हम तो साधना भी करना चाहते हैं, और जिनका जिज्ञासा से कोई सम्बन्ध नहीं, वे हमें समझें और हमारे साथ सहयोग करें यह आशा भी रखते हैं, अपेक्षा रखते हैं। यह अपेक्षा संगत नहीं है जिज्ञासा के साथ।

भाग्यशाली हों तो सहयोग मिल भी जायेगा, वे लोग आपको समझ भी लें। लेकिन ऐसे भाग्यशाली विरले ही होंगे। अकसर यह होता है कि जिज्ञासा जिसके भीतर जागृत 'हुई वह किसी कुल का नहीं, किसी वंश का नहीं, किसी देश का नहीं, वह तो जिज्ञासुओं की जमात का है, जो भूमण्डल पर यत्र-यत्र बिखरे हुए हैं। जिज्ञासुओं में कहीं, कोई अन्तराल नहीं, पार्थक्य नहीं, पार्थक्य का तो भ्रम है। नहीं तो शिविर के बहाने प्रारब्ध हमें बनारस तक खींच नहीं लाता। जिज्ञासुओं की जमात है तो अपने जैसे जिज्ञासु से मिलाने के लिये प्रभु ले आये।

बहाने तो जीवन कोई भी बना लेता है। बहानों के आवरणों में जो तथ्य है, उसे देखना है, समझना है। देखेंगे तो आप भी अभिभूत हो जायेंगे, जैसे हम हुए हैं बचपन से। जिज्ञासा का आरम्भ आयु के पाँचवें वर्ष से हुआ। तब से यात्रा चली।

तो यह अपेक्षा रखना कि जिनके भीतर जिज्ञासा नहीं है, वे भी आपकी क़द्र करें, कुछ संगत नहीं। भारत का वह ज़माना निकल गया कि अध्यात्म की तरफ़ आप मुड़े हैं और समाज, ज्ञाति, मोहल्ले में आपकी प्रतिष्ठा हो गई कि ये जिज्ञासु बने हैं। अब जिज्ञासा का कोई मूल्य नहीं है। मूल्य बदल गये हैं। भारत तो योरोप-अमेरिका से भी अधिक भौतिकवादी, भोगवादी बन गया है।

इस देश का दारिद्र्य

दारिद्र्य के साथ भोगवाद प्रबल होता ही है। और जब तक इस देश का दारिद्र्य दूर नहीं होगा तब तक धर्म और अध्यात्म की बात यहाँ सङ्गत ही

नहीं। हम देहातों में जाकर यह वात नहीं करेंगे। यहाँ तो विश्वविद्यालय के लोग हैं, साधन-सम्पन्न हैं, आजीविका की चिन्ता नहीं है, इसलिये समग्रता की क्रान्ति की वात आप के पास रखते हैं। वाकी तो हम दूसरी वात करते हैं— ग्राम-पुनर्निर्माण की, आर्थिक विषमता के निराकरण की। उसी में जो कुछ हुआ सो कर देते हैं।

भयमुक्ति

यह न समझें कि समाज के भय को लेकर साधना की यात्रा पर निकल पड़ेंगे। भय से अनेक अन्तर्वाधायें पैदा होती हैं, ग्रन्थियाँ वनती हैं, जिनके कारण मनुष्य रासायनिक दवावों व तनावों का शिकार हो जाता है। ऐसे साधना नहीं हो पायेगी। भयमुक्ति के उपाय खोजते रहना साधना नहीं है। वीतराग की तरह वीतभय होना जरूरी है पहले ही क्षण में। जिज्ञासा को जीवन के साथ जोड़ने के क्षण में ही भयमुक्त हो जाइये। भयमुक्ति, अभय ही स्वाधीनता है। अभयता निर्भयता नहीं है। भय के खिलाफ़ निर्भयता को खड़ा करेंगे तो वह भी एक विचारधारा (approach) वन जायेगा। वह नहीं, अभय की वात कह रहे हैं, जहाँ भय भी नहीं निर्भयता भी नहीं। निर्भयता में एक प्रकार की विशेष धारणा है जिसे संस्कारित (cultivate) किया जाता है जैसे कामुकता के खिलाफ़ ब्रह्मचर्य को खड़ा करते हैं, प्रतिज्ञा, व्रत लेकर, दमन-निग्रह करके।

निरपेक्षता आवश्यक

अभय में सहजता है, निर्भयता में प्रयास, आयास है। तो. भय न रखें कि हम एकाकी पड़ जायेंगे। भय इसलिए होता है कि आशा, अभिलाषा है कि मुझे कोई समझे। मेरे साथ जो मेरे हैं, जिनका मैं हूँ, वे मुझे समझें। यह सूक्ष्म-वंधन है, इसे छोड़ दें। निरपेक्षता रहे। यह नहीं कि उनसे कहें कि हम तो आध्यात्मिक वन गये हैं, और आप लोग वँधे हुए है। इसमें से अहंपवित्रवाद आयेगा, तव अकेले पड़ जायेंगे, फिर कोई नहीं वचा सकता। अकेलेपन का निर्माण तो मन और अहंकार ही करते हैं, जिज्ञासा नहीं। उसका अहंकार आपको दूसरों से

अलग कर देता है। दूसरे लोग आध्यात्मिक भले न हों, लेकिन आप के अहंकार की बू को ज़रूर पकड़ लेंगे।

अहंकार, दर्प की दुर्गन्ध को बचाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है, आप में भी नहीं। तो, जिज्ञासु बनने का यदि अहंकार आया तब तो एकाकी पड़ जायेंगें आप। फिर मुश्किल हैं। जिज्ञासा आई तो ठीक है, प्रभुकृपा है, उसमें से कोई ग्रन्थि नहीं बनानी चाहिये। और अहंकार ग्रन्थियाँ बनाता ही है। एक-एक ग्रन्थि का निर्माण यानी चेतना की गति में विघ्न पैदा होना।

इसलिये भय न रखें। एकाकी कोई नहीं। यदि जिज्ञासा विशुद्ध है और समग्रता के साथ उसका सम्बन्ध है तो एकाकी आप रह ही नहीं सकते। जैसे आकर्षण का नियम है, कार्य-कारण-भाव का नियम है, वैसे प्रेम का भी नियम है। सहजता का भी एक नियम है, जो सब के परे सूक्ष्मतम प्रवाह में रहता है। उसे शब्दों में बताना कठिन है। सहजता की अनिवार्य गति में कुछ घटित होता है। जिज्ञासा की गति और अनुभूति की गति एक दूसरे की तरफ़ कुछ ऐसे ही आकर्षित होती हैं जैसें चुम्बक और लोहा। अथवा कहा जाता है न कि पानी अपना स्तर बना ही लेता है, वैसे ही जिज्ञासा का अपना एक चेतना-स्तर है जहाँ तक जिज्ञासा का बहाव आपको ले जाता है।

आखिर अनुभूति क्या है ? परिपक्व जिज्ञासा ही तो है। यह कच्ची है, वह परिपक्व है, इतना ही तो फ़र्क है। इसीलिये शुरू में कहा था कि शायद गुरु और शिष्य एक ही अवस्था के दो नाम होंगे। जिज्ञासा और अनुभूति शायद एक ही अवस्था की कच्ची और पक्की दशा के वर्णन करने वाले शब्द होंगे। चैतन्य का नियम, प्रेम का नियम है ज़रूर। वह कार्य करता है।

जिज्ञासा में असीम संवेदनशीलता है। असीम संवेदनशीलता अनुभूति की काया है; अतः दोनों का मिलन अनिवार्य है; एकाकी रहेंगे कैसे ? इसलिये भय छोड़ दें, भय छूटेगा तो अपेक्षा छूटेगी। जिन्हें आप दैहिक सम्बन्धों के कारण स्वजन समझते हैं, मानसिक सम्बन्धों के कारण मित्रजन समझते हैं, ज्ञाति-सम्न्वधों के कारण रिश्तेदार समझते हैं, उनसे अपेक्षा छूट जायेगी। अपेक्षा

छूटेगी तो आपकी अपेक्षा के पाश से मुक्त होकर शायद वे आपको कुछ देख भी सकें। आपकी अपेक्षा ही उन्हें बाँधती है और वे आपको देख नहीं पाते।

आप अपेक्षाओं के माध्यम से दूसरों पर प्रभुत्व जमाते हैं। प्रभुत्ववाद रखने के अनेक मार्ग हैं, उनमें से अपेक्षा भी एक मार्ग है और वह सूक्ष्म है। बाहर से प्रभुत्व रखने वाला स्थूल है, निन्दा का पात्र बनता है, भीतर से अपेक्षा के पाश फैला-फैला कर जकड़ने वाला सूक्ष्म स्तर पर प्रभुत्व कायम करता है। वह जंजीर नहीं पाश है, जो दीखता नहीं लेकिन चेतना के इतने सूक्ष्म स्तर पर दूसरे को बाँध लेता है कि दूसरा व्यक्ति साँस नहीं ले पाता। वह जो पाश-जाल है उसका यदि संवरण हो जाय तो दूसरे व्यक्ति जिन्हें आप स्वजन, मित्रजन कहते हैं, आप की अपेक्षाओं से मुक्त रहेंगे। फिर हो सकता है कि आप की तरफ़ देखने की उनकी कुछ इच्छा भी हो। जब तक दिखाने की आप की इच्छा है, तब तक कोई नहीं देखेगा। क्योंकि दिखाने की आप की इच्छा ही उनकी आँख के सामने प्रत्यवाय बन जाती है जो देखने नहीं देती। यह प्रदर्शन करना कि आप बदल गये हैं, विघ्न बन जाता है। क्योंकि वे आप की इच्छा से टकराते है और उनको दिखती है आप की प्रदर्शन की इच्छा, आप नहीं दिखते। रास्ता तो आप ने बन्द कर दिया है।

इसलिये साधक को जाग्रत् रहना चाहिये कि अपेक्षाओं के पाश-जाल न फेंके। यदि भयमुक्त होंगे, तो उनका संवरण अपने-आप हो जायेगा। फिर सहजता आयेगी, विनम्रता रहेगी। जिज्ञासा के साथ विनम्रता को जाने नहीं देते हैं भय व अपेक्षा। वे हट जायँ—इतना यदि मनुष्य ने किया तो आगे कुछ करना शेष नहीं रहता। जो शेष है उसे जीवन स्वयं सँभाल लेता हैं। जो शेष है वह आपके व हमारे पुरुषार्थ का विषय नहीं, जैसे प्रेम अपने पुरुषार्थ का विषय नहीं। आगे की यात्रा स्वयं चलेगी।

यात्रा और मंज़िल

विनम्रता व उन्मुखता को ले कर जिज्ञासा चल पड़ी है, यही यात्रा है। यहाँ तो कदम उठाने में ही यात्रा की फलश्रुति है। मंजिल का विचार यात्रा का मज़ा

फीका कर देगा। वह मज़ा किरकिरा पड़ जायेगा क्योंकि दृष्टि मंजिल पर है चलने पर नहीं। चलने का आनन्द उसे कैसे मिलेगा जिसकी आँख में मंजिल के चित्र ही झलकते-छलकते रहते हैं। वह चल नहीं पायेगा। यात्रा में ही क्या कम आनन्द है जो मंजिल पर पहुँचने की धाँधली हो! पर आप उसीके सपने देखते हैं। मंजिल के सपने देखने वाले यात्रा नहीं कर पाते और यात्रा करने वाला देखेगा कि अनन्त में कहीं मंजिल है ही नहीं।

जीवन की गति

जीवन ही अनन्त गति है। उसमें अपनी गति मिला दी है, और जीवन चल रहा है। तब आप नहीं जीते, जीवन आप में से जीता है। एक व्यक्ति के नाते फिर आप नहीं जी रहे हैं, जीवन जी रहा है। जीवन का समस्त लावण्य निखर रहा है, आपकी दशेन्द्रियों से झर रहा है। जैसे सूरज में से प्रकाश व उष्णता, चाँद से चाँदनी, वैसे ही फिर आपकी प्रज्ञा में से जिसे लोग ज्ञान-विज्ञान कहेंगे वह झरता रहेगा, आप कुछ नहीं करेंगे, क्योंकि करने के लिये कोई बचा नहीं रहता वहाँ।

सहजावस्था में व्यवहार

ऐसी अवस्था में रहते हुए भी प्रारब्ध-प्राप्त व्यवहार हो सकता है। वह व्यवहार न हो तो इसका कोई मूल्य नहीं। फिर तो देश जल रहा है और यहाँ (घर में) सितार बजा रहे हैं—यह होगा। समाधि-अवस्था में रहते हुए यदि व्यवहार सम्भव नहीं, समाधि से आगे जा कर सहजावस्था में यदि रसोई बनाना, दफ़्तर में काम करना, माता-पिता, गृहिणी-गृहपति का दायित्व सँभालना—यह सब असंभव हो जाता है तो उस सहजावस्था का कोई मूल्य मेरे पास नहीं।

सहजावस्था का, समाधि का, चेतना के अवस्थान्तर का मूल्य इसलिये है कि वह मानवीय सम्बन्धों का कायापलट कर देता है। आज तक, समाधि अवस्था तक पहुँचते-पहुंचते साधक निवृत्त हो जाता था, संसार से हट कर, जिम्मेवारियों से हट कर एकान्त में बैठता था। इसलिये उसकी उपलब्धियों का देश को, जनजीवन को लाभ न हुआ। उन पर विशिष्ट व्यक्तियों का एका-

धिकार रह गया। यही माना गया कि अनुभूतियाँ आईं, समाधि तक पहुँचे, अब उनसे घर-गृहस्थी न होगी। उनकी अलग व्यवस्था कर दो।

उस अवस्था में रहते हुए इन्द्रियों का उपयोग न हो सका, मन व बुद्धि का विनियोग न हो सका, कायिक-वाचिक-मानसिक व्यापार में नया प्रसाद व तेज का सौरभ घुल कर मानवीय सम्बन्ध आलोकित न हुए तो फिर क्या? तो फिर वह परम स्वार्थ ही हुआ न! ऐसा नहीं। ओर यह करने जायें तो समाधि अवस्था में, सहजावस्था में शरीर रह नहीं सकता। तो चुनौती है सम्पूर्ण स्नायु-संस्थान को, सम्पूर्ण जैव व मानस अवयवसंस्थान (The whole biological and psychological organism) को समर्थ बनाने की कि वह चेतना के इस स्तर को वहन कर सके—सुगमता, सरलता व सहजता से।

यदि शरीर यह नहीं कर सकता, सह नहीं सकता और जीवन से अलग हट जाना पड़ना है तो मैं समझती हूँ कि वह एकांगिता होगी, और हमारे देखे ऐसी एकांगिता जरूरी नहीं। मौन में प्रतिष्ठित होकर भी वाणी का सम्यक् उपयोग हो सकता है। शान्ति में प्रतिष्ठित होकर प्रारब्ध-प्राप्त गति के साथ जाया जा सकता है।

●

(ख) तृतीय प्रश्नोत्तरी

प्रश्न ?—जिज्ञासा को प्रयत्न द्वारा उत्पन्न किया व कायम रखा जा सकता है अथवा वह स्वयमेव होती है ?

उत्तर—मनुष्य यदि आँख और कान खुले रख कर जीता है, यानी अपने जीवन के साथ और दूसरों के साथ अपने संबन्धों के स्वरूप को यदि देखता है, तो जिज्ञासा जाग सकती है। 'आँख और कान खुले रख कर' यानी परम्परागत बातों को प्रवाह-पतित की भाँति मान कर नहीं, सोचना छोड़ कर नहीं। जो सुना है, जो पढ़ा है उसके अनुसार वर्तन रहे तो जीवन परोक्ष (seeond-hand) है। सुने हुए, पढ़े हुए पर चले जा रहे हैं। स्वायत्त कुछ भी नहीं है जीवन में। इससे यदि संतोष हो तो जिज्ञासा नहीं आएगी। कुतूहल तक मनुष्य पहुँचेगा।

कुतूहल में स्थिरता और गम्भीरता नहीं होती। चेतना की ऊपरी सतह पर ही वह रह जाता है। खास तौर पर बुद्धिजीवियों में यह कुतूहल उठता है कि देखें तो सही क्या बात है।

क्रोध आया तो मनुष्य देखता नहीं कि क्यों आया। मान लिया कि स्वभाव है। गाली निकली, अपशब्द निकला, समझ लिया कि ऐसा तो होता ही है। आलस्य, तन्द्रा, प्रमाद हैं तो क्यों हैं, यह नहीं देखता। मान लिया कि सब लोगों का ऐसा तो होता ही है। इस प्रकार जीवन के जो प्रवाह आज चल रहे हैं, इनको बिना देखे, बिना खोजे जीने में संतोष है। पैसा कमाया, मोटर है, बच्चे हैं, चार आदमी पूछते हैं। और क्या चाहिए ? चेतना को इस ऊपरी सतह से जिन्हें संतोष है उन्हें जिज्ञासा से क्या ?

सुख की तरंग उठी, दुःख की उठी। मान आया, अपमान आया—चले जा रहे हैं बहते हुए, ऐसे जिज्ञासा नहीं जागेगी। और इस में रस आता है। उधर

जिज्ञासा जगाने का भी कोशिश करेंगे। रस है संसार में। कहीं जा कर सुन लिया कि आत्मोपलब्धि, सत्पोपलब्धि में मनुष्य की कृतार्थता है। रस तो यहाँ हैं और वुद्धि को वहाँ लगाना चाहते हैं। रस यहाँ क्यों हैं, यह जो खोजेगा उसके भीतर जिज्ञासा जाग उठेगी। लेकिन रस है, वह गलत है, यह कर भागने वाला क्या जिज्ञासा करेगा ?

जिज्ञासा प्रयास-साध्य है। कौन-सा प्रयास ? जो जीवन जी रहे हैं, उसे समझने का। सिद्धार्थ—शुद्धोदन का वेटा। महल में, सुख के कारागार में पला। एक दिन वहाँ से बाहर घूमने निकला तो व्याधि, जरा, मृत्यु के दर्शन हुए। ये सवको होते हैं, कोई इनसे वचता नहीं, यह पता चला। आघात लगा। सवके लिए अनिवार्य है, यह कह कर स्वीकार नहीं कर लिया। मन में आत्मदया या आत्मग्लानि नहीं आई कि मैं भी बूढ़ा, वीमार वनूँगा, एक दिन मरना होगा। वहाँ जाता तो जिज्ञासा नहीं जागती। लेकिन तिलमिला गया। नखशिखान्त वेचैनी ओतप्रोत हो गई। "सारथि! रथ लौटा लो। सुख-दुःख के झूले पर बैठ कर आगे नहीं जाया जा सकता।" जिज्ञासा जागृत हुई। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि क्या है, जीवन का स्वरूप क्या है, इससे परे कुछ है या नहीं ?

कान और आँख खुले रखने का पुरुषार्थ जो करते हैं उनके भीतर जिज्ञासा स्वमेव जागृत होती है। प्रयास यदि कुछ करना है तो अपने जीवन को समझने का, दूसरों के साथ अपने जो सम्बन्ध हैं उनके स्वरूप को समझने का। इतना ही प्रयास इसके लिए हो सकता है। अन्य किसी प्रयास से जिज्ञासा को कुरेदा नहीं जा सकता।

प्रश्न २—ध्यान के अभ्यास के लिए प्रतिदिन कितनी देर और कितनी वार वैठना चाहिए ?

उत्तर—यह कौन निर्धारित करेगा ? "किसी का मार्गदर्शन मत स्वीकार करो, अपनी खोज करो"—ऐसा कहने वाली व्यक्ति यदि नियम या फ़ार्मूला वना दे, तो आप की द्रोही बनेगी। "मार्गदर्शन मत ढूँढो" इसका क्या यह अभिप्राय है कि मेरा मार्गदर्शन स्वीकार कर लो! आपके लिये मैं कैसे जान सकती हूँ ?

जितनी उत्कटता होगी, तीव्रता होगी, उसके अनुपात में २४ घण्टे की व्यवस्था आप के भीतर से आयेगी। प्रेम में पूछना नहीं पड़ता कि कितना समय बैठूँ, कितनी देर लगाऊँ? बच्चे को खेलना अच्छा लगता है, इसलिये वह खाना-पीना भी भूल जाता है। जिज्ञासा की उत्कटता और तीव्रता के अनुपात में अपने आप समय की व्यवस्था होती चली जायेगी। तब तो जागृति में, निद्रा में, हँसते-बोलते-उठते-बैठते प्रारब्ध-प्राप्त कर्म तो चलेगा, लेकिन भीतर कुछ ध्यान की अवस्था भी चलेगी। सवाल उत्कटता का, जिज्ञासा की विशुद्धता का है। समय और स्थान तो अपने आप निर्धारित होते चले जाते हैं।

फिर भी यदि किसी लड़के-लड़की का यह प्रश्न हो तो कह देती हूँ कि जैसे स्नान करते हो, अन्न-ग्रहण करते हो, उसी प्रकार दिन में एक बार तो शरीर व मन को तनाव-मुक्त, दबाव-मुक्त अवस्था में रखने के लिये समय निकालो। यह सम्पूर्ण विश्रान्ति (Total relaxation) क्या है? इसका मजा तो जरा चख के देखो। मौन और विश्रान्ति की पावन धारा में गोता लगा कर तो देखो।

उसमें जैसे-जैसे आप को आनन्द आने लगेगा, वैसे-वैसे समय की मियाद बढ़ती चली जायेगी। लेकिन यह करके देखये लायक है।

कितने तनावों और दबावों में आप रहते हैं। निद्रा में शरीर को थोड़ा बहुत विश्राम मिलता है। लेकिन आप शान्ति से एकान्त में अपने साथ बैठेंगे, शरीर, मन, वाणी की स्थिरता में कुछ समय रहेंगे, तो हो सकता है आप के श्वासोच्छ्वास की क्रिया को भी आराम मिले। वह भी जरा एक विश्रान्त गति से, लय से चल सके। आपके रुधिराभिसरण को, प्राणों को भी आराम मिले।

इस प्रकार कम से कम एक बार गोता तो लगाइये दिन में। चौबीस घण्टे में सब कुछ होता है, यही नहीं होता। क्योंकि यह बोध नहीं है कि सर्वथा तनावरहित अवस्था में भी जिया जा सकता है और मौन भी जीवन का एक आयाम है। इसका बोध हो जाए तो मनुष्य समय और स्थान बहुत सहजता से पैदा कर लेगा।

प्रश्न ३—क्या अभ्यास की यही प्रक्रिया सर्वदा जारी रहेगी, अथवा कालान्तर में किसी भिन्न प्रक्रिया का निर्देश भी किया जायेगा?

उत्तर—कौन सा अभ्यास ? देखने की अवस्था में अपने आप को रखना, शरीर, वाणी और चित्त की असुग्धावस्था में अपने आप को ले जाना—यहाँ मनुष्य कुछ कर सकता है। वहाँ यदि प्रतिष्ठित हो गये तो फिर क्या करें ? करना वहाँ नहीं है, देखना है। द्रष्टा-भाव है वहाँ। द्रष्टा अभी शान्त नहीं हुआ है। कर्ता और भोक्ता अभी शान्त हुआ है। द्रष्टा वहाँ है और देख रहा है। जो भीतर घटित होता है, जो गतिमान् है, जो भीतर के स्पन्दनों का साम्राज्य है, उसको देखता है।

देखने की अवस्था ठहर गई तो चेतना के व्यापार को देखता है। अचेतन के द्वार खुलते हैं तो उसके व्यापार को देखता है। उसी प्रकार जब अवचेतन के द्वार खुलते हैं तो उसके व्यापारों को भी देखता है। जागृति में यह अवस्था ठहरी तो निद्रा में भी ठहर सकती है। निद्रा को भी देखा जा सकता है, केवल-स्वप्न को नहीं, सुषुप्ति को भी। यह देखने की अवस्था कब तक ठहरेगी ? जब तक दृश्य दीखते हैं। अचेतन, अवचेतन, निद्रा, सुषुप्ति के दृश्य जब तक दीखते हैं, तब तक द्रष्टा है। लेकिन मनुष्य के अचेतन, अवचेतन में जो ज्ञान या अनुभूतियों का संग्रह है, वह अमर्यादित नहीं है, असीम नहीं, ससीम है। वह समाप्त हो जाता है।

दृश्यों का दीखना जब शान्त हो जाता है, तब देखना और देखने वाला दोनों शान्त हो जाते हैं। तब अवस्थान्तर आता है। उस अवस्थान्तर में देखने वाला ही नहीं है, तब करने का क्या सवाल उठा ? यही तो घबराहट है कि देखने वाला शान्त हो जाय तो फिर बाद में क्या ? हम तो अपनी मुक्ति को भी देखना चाहते हैं। "मैं मुक्त हूँ" यह कहने के लिये शेष रहना चाहते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि'-भाव धारण करने के लिए बचे रहना चाहते हैं। आप की मुलाकात मुक्ति के साथ कभी नहीं होगी। आप जो हैं—देहधारी, नामधारी एवं-गुणविशिष्ट, उनकी मुलाकात नहीं होगी।

घबराहट तो यह है कि देखने वाला शान्त हो जाय, फिर जहाँ दृश्य नहीं, दर्शन नहीं, द्रष्टा नहीं, वहाँ क्या है? चेतना की एक निर्द्वन्द्व अवस्था है, इसी से

हम घबराते हैं। क्योंकि द्रष्टा का विसर्जन ही अहंकार की मृत्यु है। और अहंकार कहता है कि यहाँ तक नहीं जाना भाई, कोई बचे रहने का उपाय बताओ !

कालान्तर की कोई समय-सारिणी बना कर कोई देगा ? व्यक्ति का शरीर कैसा है ? उसका जैव, मानस, आनुवंशिक गठन कैसा है ? आज की उसकी हालत क्या है ? व्यवसाय कौन-सा करता है ? क्या आहार लेता है ? जहाँ रहता है वहाँ का हवा-पानी कैसा है ?—इन सबका मिला-जुला जो परिणाम है, उसमें से उसकी संवेदनशीलता और उत्कटता बनती है।

एक की उत्कटता इतनी हो सकती है कि एक दिन में काम हो जाय, और किसी की उत्कटता इतनी मन्द है कि सालों लग जायँ। इसका गणित बैठाया नहीं जा सकता। गणित बैठाना, नक्शे बनाना, योजना बनाना, ये जो बुद्धि की कक्षा तक के व्यापार हैं, उनको मन-बुद्धि से परे ले जाने का मोह छोड़ दें।

प्रश्न ४—आप ने कहा है कि बुद्धि जन्म और मृत्यु के बीच की अवस्था के बारे में ही विचार कर सकती है। तो कृपा करके बताइये कि जीवन कहाँ से आता है और मृत्यु के पश्चात् कहाँ रहता है ? क्या जीवन अमर हो सकता है ?

उत्तर—जीवन के तो मृत्यु नहीं। जीवन कहाँ मरता है ? जीवन यानी ऊर्जा, जीवन यानी चैतन्य। जिसे आप स्थूल देह कहते हैं, पञ्च महाभूतों का, उसके आकार की ही मृत्यु होती है।

जो विचार आप के चित्त में उठते हैं, उनकी तो मृत्यु नहीं। वे तो आये कि अमर हो गये, वातावरण में गये। वासना भीतर उठी, आसमन्त में गई, वहाँ फैल गई। वासनाओं के, विचारों के प्रवाह सूक्ष्म हैं। अनन्त सागर में जाकर वे घुल-मिल जाते हैं। जीवन के तो मरण है नहीं, मरता है शरीर। इस शरीर के भीतर जो दूसरे शरीर हैं, उनका क्या होता है ? वेदान्त और भारतीय दर्शन की बात नहीं कह रही हूँ। विज्ञान द्वारा जाँची गई बात कह रही हूँ। यन्त्रों द्वारा शरीर के भीतर पाँच शरीरों के फ़ोटो लिये गये हैं। अति-प्राकृतिक (Super-natural) स्तर की बात नहीं है। अब वे लोग इस खोज में लगे हैं कि स्थूल शरीर मरता है तो इन बाकी शरीरों का क्या होता है ?

इतना कह दूँ कि जन्म-मरण शरीर के साथ जुड़े हैं। जीवन जो जन्म के साथ प्रकट होता और मृत्यु के साथ लुप्त होता दिखाई पड़ता है, या अव्यक्त में चला जाता है, उसके मृत्यु नहीं, वह सनातन है। 'प्रतिक्षणं नवनवतामुपैति' ऐसा उसका स्वरूप है।

उपसंहार

तीन-चार दिन से यहाँ बैठकर आप के प्रश्नों को सुनकर जैसा जो सूझा वैसा उत्तर देने का यत्न किया। इससे कोई यह न समझे कि हमारा सर्वज्ञता का दावा है। मेरे ही मन में ये प्रश्न उठते तो किस प्रकार मैं उत्तर रखती, इतना ही आप के सामने रखा है। इसमें से ऐसा सम्बन्ध नहीं बना है कि मैं सब जानने वाली हूँ, अध्यात्म की बात करती हूँ। सम्पूर्णता या त्रुटिहीनता का कोई दावा नहीं है।

जो आज का मर्यादित जीवन है, मन-बुद्धि में रहकर जो जिया जाता है, उसके परे भी जीवन है, उसमें जिया जा सकता है। वह जीवन का एक आयाम है। उस आयाम की खोज प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रता से कर सकता है। इतनी बात आप तक पहुँचाने में यदि मैं समर्थ हुई हूँ तो यह संवाद निष्फल नहीं गया ऐसा समझें।

[अंग्रेजी के प्रश्नोत्तर कृपया अंग्रेजी खण्ड में देखें। —संपा०]

: ८ :

समय—प्रातः ८॥ बजे दिनांक—२१-२-७१

गीता समिति के तत्त्वावधान में प्रवचन*

मनोरञ्जन या बुद्धिरञ्जन

मुझे आशा है कि प्रवचन में यदि मनोरञ्जन न हुआ तो आप क्षमा करेंगे। अपने और दूसरों के मनोरञ्जन या बुद्धिरञ्जन के लिये वाणी का विनियोग करने की अवस्था में से हम गुज़र गये हैं। वह अब हमारे लिये संभव नहीं है। जीवन में जो जिया जाता है, जो प्रत्यय आचरण से समृद्ध हो गया है, उतना ही अभिव्यक्त करने के लिये मुँह खोलना अभी तक संभव है। वह भी कब तक संभव रहेगा प्रभु जाने।

भारत का दुर्दैव

संसार में आज सबसे कोई दुर्दैवी देश है तो भारतवर्ष है। इसलिये नहीं कि दारिद्र्यग्रस्त है। दारिद्र्यग्रस्त देश तो अफ्रीका-खण्ड में भी हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया में भी हैं, मध्यपूर्व में हैं। अभावग्रस्त, निरक्षर जनता की बड़ी-बड़ी समस्याओं से संसार के अनेक देश ग्रस्त हैं। उनमें से एक भारत भी है। वे समस्यायें सामान्य नहीं हैं, और दारिद्र्य-निवारण के सिवा इस देश की कोई भी उन्नति संभव नहीं, इसका हमें भान है, लेकिन दुर्दैवी इसलिये कह रहे हैं कि

---

*यह प्रवचन सार्वजनिक (मालवीय भवन में) था, अतः शिविर के अन्तर्गत प्रवचन-माला के साथ इसका अनुसन्धान नहीं है। प्रवचनों के कालानुक्रम के अनुसार इसे यहाँ स्थान दिया गया है। वास्तव में इसका स्वतन्त्र स्थान है।

इसकी जो सम्पदा है, जो ऐश्वर्य है उसका भान इस देश के भले-भले लोगों को नहीं है। शिक्षणविदों को नहीं, राज्यकर्ताओं को नहीं, धर्मगुरुओं को नहीं, मठों में बैठने वाले संन्यासियों को नहीं। जिसे आत्म-परिचय नहीं है, वह व्यक्ति या देश सम्मान के साथ कभी जी नहीं सकता। व्यक्तिगत और सामुदायिक आत्म-परिचय आवश्यक है।

श्रीमद्भगवद्गीता की दुर्गति

इस ग्रन्थ की जितनी दुर्गति हुई है उतनी शायद ही किसी ग्रन्थ की हुई हो। दीखता यह है कि जब तक वैदिक दर्शनों का परिचय नहीं है तब तक गीता से परिचय पाना, शब्दों में जो रहस्य भरा पड़ा है उसके उद्घाटन तक पहुँचना असम्भव है। उदाहरण के लिये हमारे एक मित्र ने एक नई बात निकाली है कि गीता केवल मनोविज्ञान का ग्रन्थ है, इसमें अध्यात्म नहीं है। संभव है उनका वेद-उपनिषद् से परिचय न हो, वर्ना ऐसी भूल न होती।

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधी भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥"

जीवन की समग्रता

इस देश में पुरातन काल में जो भी लोग रहते होंगे, उनमें अजीब अनोखी एक शक्ति रही कि जीवन को समग्रता में वे देख पाते थे। जीवन को विभाजित करके, यह मनोविज्ञान है, यह शरीरविज्ञान है, यह समाजविज्ञान है, यह अर्थनीति है—इस प्रकार खण्डों में बाँट नहीं देते थे, जैसा कि आज बाँटा जाता है। मनोविज्ञान यदि समग्र मानवविज्ञान का हिस्सा न हो तो उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं।

पश्चिम का मनोविज्ञान

पश्चिम में गत दो-तीन शताब्दियों से मानसविज्ञान का विकास हो रहा है, लेकिन उसका अधिष्ठान अध्यात्म में न होने के कारण, तत्त्वज्ञान की पृष्ठभूमि

न मिलने के कारण वह मानसशास्त्र बड़ा अनाथ-सा, लावारिस-सा है। उसकी जड़ें कहीं भी नहीं हैं। त्रिशङ्कुवत् हैं।

भारतीय कौन ?

गीता से परिचय पाने से पहले भारतवर्ष की यह एक विशिष्टता (जीवन को समग्रता में देखने की) ध्यान में रखनी पड़ेगी। आज हमारे और आपके पास वह न रही क्योंकि भारत में जन्म पाकर भी हम अभारतीय हैं। आत्मा की जो "भा" है, जो तेज है, उसमें जो रति है, उसमें रहने वाले हम नहीं हैं। भारतीय से मतलब भौगोलिक इकाई में रहने वाले से नहीं। आत्मा के आलोक से जिसे रति है वह भारतीय है। यह मनगढ़न्त व्युत्पत्ति या निरुक्त नहीं। लेकिन आज हमारे पाँव उखड़ चुके हैं, हजारों वर्षों की गुलामी के कारण भारतीयता में क्या वाञ्छनीय है, क्या त्याज्य है, क्या देश-काल-सापेक्ष था, कहाँ परिवर्तन लाना है—इसका कोई विवेक, कोई दृष्टि हमारे पास नहीं रही।

हम कलेवरों से चिपके हैं

वेद, उपनिषद्, गीता जैसे ग्रन्थों को, दर्शन-शास्त्रों को हम आज केवल परम्परा के कारण रखे हुए हैं, कलेवरों से चिपके हुए हैं, आशय से कोई मतलब नहीं। विद्वत्ता और पाण्डित्य का विषय बना लिया है उनको जो कि जीवन के विज्ञान और जीवन की कला हैं। जो परम्परा को चिपके रहेंगे, कलेवरों का जतन करेंगे, और अपने जीवन में उसे जियेंगे नहीं, वे उसे जीवित नहीं रख सकते। शवों को ढोने से मतलब नहीं। भीतर के प्राणों का अपने जीवन से अनुबन्ध साध कर उसे जीना आवश्यक है। और आज-कल जीवन का प्रेम इतना क्षीण हो गया है कि कुछ भी करने को कहिये जीने को मत कहिये।

धर्मग्रन्थों की समग्र दृष्टि

धर्मग्रन्थों में ऐसा ग्रन्थ ढूँढना मुश्किल है जिसमें जीवन की समग्रता पर दृष्टिक्षेप न हो, जिसकी परिधि में समग्र मानव जीवन न आ जाता हो। वहाँ तो जीवन की समग्रता को व्यक्तिगत और सामुदायिक ऐसा भी नहीं बाँटा गया है।

पहले समग्रता को देख लिया, व्यक्ति कहाँ से प्रारम्भ करता है यह देख लिया, और जैसे व्यक्ति समग्रता में जोने लगता है, वैसे सामुदायिक सम्बन्धों का स्वरूप अपने आप उसमें से खिलता जाता है, जैसे किसी पुष्प की पंखुड़ियाँ खिल रही हों।

विषाद-योग

गीता का प्रारम्भ ही अर्जुन-विषाद-योग से होता है। हमें पता नहीं है कि विषाद क्या होता है? और विषाद का भी योग होता है, यह तो और भी पता नहीं है। हमारे अपने ही भीतर विश्वचेतना की जो सत्ता पड़ी है, उसके साथ कोई चीज जोड़ देती है. जीने की यह खूबी हमें मालूम नहीं हैं। विषाद का भी योग बने, कर्म का भी योग बने, भक्ति का भी योग बने। ये शब्द महत्त्व के हैं, क्योंकि यह खोजने की बात है कि ये सब योग कैसे बनते हैं?

दिन-रात कर्म करते रहने से कोई कर्मयोगी नहीं बनता, नवधा भक्ति के सब उपचारों की दिन रात व्यवहृत करते रहने से कोई भक्तियोगी नहीं बनता, पाण्डित्य से कोई ज्ञानयोगी नहीं बनता। हर चीज को, हर व्यापार को, योग में परिणत कर देने की जो कला इस देश में कभी रही होगी उसमें कोई रहस्य अवश्य रहा होगा।

पहले तो यह समझना होगा कि विषाद क्या है? विषाद का हमने कभी अनुभव किया है?

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।

यह अवस्था भी कभी होती है? समस्या को सामने देखने के बाद उसकी गहराई में हम उतरते हैं? वह हमें आमूलाग्र हिला देती है कभी? इतना अवसर हम समस्याओं को देते ही नहीं। समस्या के साक्षात्कार में अपने-आपको प्रतिष्ठित नहीं होने देते। समस्या सामने दिखी कि मुँह पर हम घूँघट डालना चाहते हैं, किसी के पास दौड़ जाना चाहते हैं कि बचाओ, कोई रास्ता बताओ। समस्या को आँख खोल कर देखा भी नहीं कि जी भर कर देख तो लूँ कि क्या नाक-नक्श है इसका। कहाँ-कहाँ यह मेरे भीतर प्रवेश करती है? जिज्ञासा का

आशय यही है कि चुनौतियों और समस्याओं को अपने भीतर प्रत्येक पर्त में व्याप्त होने का अवसर दिया जाय ।

जीवन जीने की जिज्ञासा हो तो समस्याओं से मनुष्य भय नहीं रखेगा, उन से लड़ेगा नहीं, समझने की कोशिश करेगा । और उनका जो परिणाम अपने भीतर होना चाहता है, उसे घटित होने देगा ।

समस्या का, चुनौती का, आह्वान का सामने आना जीवन में एक परम भाग्यशाली घटना है । देखिये उसमें कितना रोमांस है, कैसी अद्भुतता है । समस्त शक्तियों का आह्वान जब कोई चुनौती करती है, तो एक अद्भुत अवसर उपलब्ध होता है ।

"धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे"

धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र—ये कोई भौगोलिक इकाइयाँ हैं—इतना संकुचित अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं । आपके और हमारे जीवन में, जिज्ञासु के जीवन में धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र रोज़ खड़ा होता है, शतवार खड़ा होता है । सत्य और न्याय के विपक्ष में स्वजन खड़े होते हैं, लेकिन यह हम देखते नहीं । भूतकाल में कोई धर्मक्षेत्र था, भूतकाल में कोई अर्जुन हुआ था, उसकी यह समस्या थी, हमारी नहीं है । जब तक अर्जुन की तरह विषाद आपकी समस्या नहीं बनता और वह विषाद भीतर की आत्मसत्ता से आपको जोड़ नहीं देता, तब तक गीता का दूसरा अध्याय खोल कर क्या कीजियेगा ?

कलेवरों में सुविधा

तोते की तरह धर्मग्रन्थों को रट लिया, रोज़ पाठ कर लिया, उसमें से पुण्य मिलता है, कुछ सदाचार घटित होता है, यह परम्परा है, हम हिन्दुत्व के, अभिमानी हैं । अभिमानी हिन्दुत्व के हैं, जीवन के नहीं । कायल हैं परम्पराओं के, प्राणों के नहीं । आशिक प्राणों के होना चाहिये, कायल होना चाहिये जीवन का । लेकिन हम तो कलेवरों को अपने हृदय से चिपकाये रखते हैं क्योंकि उसमें बड़ी सुविधा है । कलेवर बोलते नहीं, चुभते नहीं, बेचैन नहीं बनाते, चुनौतियाँ पेश नहीं करते, सवाल नहीं पूछते ।

गीता क्रान्तिकारी ग्रन्थ

गीता एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ है। गीता भी पढ़ें और जीवन जैसे का तैसा रहे, असंभव है। आत्मानुभवी की वाणी का स्पर्श हो और चेतना जहाँ की तहाँ ठिठक जाय, असंभव है। फिर तो आपने लोहे और पारस के बीच कोई चादर रख दी है, बहुत मुलायम, बड़ी महीन, रेशमी, जरी का काम की हुई, ताकि लोहा कहीं सुवर्ण न हो जाय। पारस का सीधा कहीं स्पर्श न हो जाय। समस्यायें आईं, कोई बेचैनी हुई, कुछ थोड़ा-सा दुःख हुआ, कि उस दुःख से बचने के उपाय खोजते हैं, विषाद तक पहुँचेंगे भी कैसे ? विषाद तो चेतना की गहराई से आता है।

विषाद की गहराई

सिद्धार्थ की घटना मेरे लिए बड़ी प्रिय है। राजप्रासाद जो सुरक्षा का कारागार था, उससे एक दिन बाहर निकले और देखा कोई व्याधिग्रस्त, कोई जरा-ग्रस्त, किसीका मृत शरीर। चोट पड़ गई कि यह क्या है ? जीवन में जरा का, व्याधि का पृथक् स्थान क्या है ? जन्म क्या है, मरण क्या है ? आगे विहार के लिये जा नहीं सका वह युवक। एक गहरे विषाद ने घेर लिया कि आखिर जीवन का अर्थ क्या है ?

विषाद तक पहुँचेंगे, तो सारी की सारी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक अवस्था में घोर मन्थन पैदा होगा। क्या धर्म है, क्या अधर्म है ? क्या कर्तव्य है, क्या नहीं हैं ? स्वधर्म क्या है ? यह सब खोजने के लिए समस्या ही प्रेरणा बन जाती है। जीवन जीने की कला तो यह है कि समस्या ही अवसर बन जाय, प्रेरक तत्त्व बन जाय। और सम्बन्ध ही साधना के अवसर बन जायँ। जब तक यह नहीं होता तब तक सांख्य-योग तक जाकर क्या कीजियेगा ?

जीवन का सम्बन्ध प्रत्यय से

सृष्टि के अनन्त तत्त्वों को प्रकृति-पुरुष में बाँटते हैं, द्वैत मानते हैं या अद्वैत मानते हैं। जीने का सम्बन्ध मानने से नहीं है। जानने से भी नहीं है, प्रत्यय से

है। मान्यताओं से, विश्वासों से और ज्ञान-विद्वत्ता से जिया नहीं जाता। वह परायत्त है, उधार है, स्वायत्त नहीं। जीवन में ऐश्वर्य उतना ही है, जितना आपका स्वायत्त प्रत्यय है। उतना ही जीवन है, बाकी जीवन नहीं।

देश के सामने आह्वान

इसलिए मैंने कहा कि यह दुर्दैवी देश है। सम्पदा पड़ी है लेकिन हम तो शास्त्रों के अर्थ लगाने में जीवन बिताते हैं या ग्रन्थों का शोषण करते हैं। द्वैत-अद्वैत-शुद्धाद्वैत-विशिष्टाद्वैत—इस प्रकार अर्थ लगाते हैं। विश्वविद्यालयों में, जहाँ शास्त्रीय या सैद्धान्तिक अध्ययन होता है, वहाँ यह सब भी चले। लेकिन वह रहस्य नहीं है जीवन का, वहाँ प्राण नहीं पड़े हैं जीने के। क्या समझेंगे कर्म को, क्या समझेंगे योग को। पढ़ते चले जाते हैं।

गीता पर जितने भाष्य हैं, उन्हें पढ़ेंगे। उद्धरण देते जायेंगे—श्रीअरविन्द, डॉ० एनी बेसेण्ट, तिलक के। उद्धरण देना यानी स्वायत्त प्रत्यय के पुरुषार्थ से बचना। और अब बचा नहीं जा सकता। आह्वान यह है कि जो बात ग्रन्थों में है वह जीवन में उतरेगी तो ही बचेगी, नहीं तो नहीं बचेगी।

योगसूत्रों का दोहन पश्चिम के देश विज्ञान और यन्त्रों की सहायता से कर रहे हैं। यहाँ तो यन्त्र से भी सूक्ष्म पद्धतियाँ प्रयोगों की प्रचलित थीं। अपने ही शरीर में, मन में प्रयोग करने के बड़े सूक्ष्म तन्त्र और तरीके यहाँ विद्यमान थे। अब लगता है कि इस देश के युवक के सामने फिर एक आह्वान है जो देश और संसार ने पैदा कर दिया है। आह्वान यह है कि जो है उसे देखो, पहचानो और जियो।

वही बात भक्तियोग की है। बड़े प्रेम से बारहवाँ अध्याय पढ़ेंगे। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार सब कहेंगे। उच्चारण के लिये गीता का पढ़ना इस देश में कुछ वर्ष के लिये बन्द रहे और जीवन में प्रयोग करने के लिये ही उसका विनियोग हो तो कुछ आशा है, नहीं तो नहीं।

गीता का प्रतिपाद्य

गीता में हिंसा या अहिंसा का प्रतिपादन है, युद्ध का प्रतिपादन है। प्रतिकार का शास्त्र वतलाया गया है, क्या वतलाया गया है ? वास्तव में उसमें युद्ध का प्रतिपादन नहीं, शस्त्रों का आग्रह नहीं। आग्रह यह है कि अपनी जो अवस्था है उसे पहचानना और उसके प्रति प्रामाणिक रहना। जो व्यवहार हो वह उस अवस्था के प्रति प्रामाणिक रह कर हो।

योद्धा था अर्जुन। क्षत्रिय था। सामने कौरवों को, स्वजनों को देखकर लड़ने की इच्छा न हुई। युद्ध से विरत नहीं हुआ था, लेकिन उसके सामने विचार कुछ दूसरे ही आ गये। अवस्था के प्रति प्रामाणिक रहने के वदले, जो वाहर से कुछ तनाव, दवाव आ गये, उनका शिकार वन गया। वहाँ नहीं लड़ना चाहता, पर दूसरा कोई प्रसङ्ग होता तो वड़ी खुशी से अर्जुन लड़ लेता।

सवाल हिंसा-अहिंसा का है ही नहीं। प्रतिपादन युद्ध का या हिंसा का कैसे होता ? वह तो प्रपिपादन का विषय ही नहीं है। लेकिन जिस मोह और विस्मृति में अर्जुन चला गया और 'प्रज्ञावाद' वतलाने लगा, वात वहाँ से उठती है।

"प्रज्ञावाद" और पलायनवाद

लड़ने से वर्णसंकर होगा, कुलस्त्रियाँ नष्ट होंगी, भ्रष्टाचार फैलेगा—ऐसा पाण्डित्य वतलाने लगा था अर्जुन। समाजशास्त्र, संस्कृति और सभ्यता की वात वतलाने लगा था। असल में वात क्या थी ? पलायनवाद था। "मैं मोहित हूँ और ये मेरे स्वजन जो दीखते हैं इनके सामने लड़ना नहीं चाहता हूँ"—यह कहने के वदले उसने जो नकाव पहना दिया 'दर्शनशास्त्र' का, वही तो हम लोग करते हैं। सुवह से रात तक हमारे व्यवहारों में यही होता है।

पति के ग़लत व्यवहार को देखकर पत्नी चुप रहती है, प्रतिकार नहीं करती क्योंकि सुरक्षा खोना नहीं चाहती। पत्नीधर्म का नकाव उसे मिल जाता है। पति भी कुटुम्ब और परिवार के नाम पर वचने का रास्ता निकाल लेता है, पत्नी की ग़लती के सामने वोलता नहीं है। पत्नी-धर्म, पति-धर्म वड़े-वड़े नाम दिये जाते हैं। परिवार की वात छोड़ दें, नौकरी में भी यही होता है। अफ़सर

नाराज़ हो जाएगा, पदोन्नति रुक जाएगी; इसलिए ग़लत चीज़ देख कर भी हम चुप रहते हैं। दिन में दो बार जो भोजन मिलता है वह सत्त्व-रक्षा से अधिक मूल्यवान् है। पलायन खोजते हैं—"यह हमारी ज़िम्मेदारी थोड़े ही है। अपने को क्या पड़ी है? हम तो भ्रष्टाचार नहीं करते। दूसरा करता है तो हमें क्या?" अन्याय के प्रतिकार में, सत्यनिष्ठा के लिए खड़े होने से हम बचते रहते हैं। पलायनवाद के लिए हम 'दर्शनशास्त्र' का निर्माण कर लेते हैं, तर्क के सहारे सिद्धान्त बना डालते हैं। यह न समझें कि बेचारा अर्जुन ही मोहित हो गया था।

सज्जनों के पलायनवाद और निष्क्रियता में से ही इस देश में आज दुर्जनों का आतंक फ़ैला हुआ है। शिक्षण-संस्थाएँ भी क्या आज आतंक से मुक्त हैं? मुट्ठी भर लड़के जो गुण्डे हों या ग़रीब हों, जिन्हें पैसे देकर कोई फुसला लेता है या राजनैतिक पक्षों की अभिरुचि होने के कारण फुसलाने में जो आ जाते हैं—वे पूरी संस्था में आतंक फैला देते हैं और हम सब देखते रह जाते हैं। और यदि कोई सवाल उठाए तो 'प्रज्ञावाद' की तैयारी है ही हमारी। विद्वत्ता के साथ जो कृत्रिम-परिष्कृत बुद्धि और भाषण-कौशल आता है, वह हमारे पास है ही।

भाग्यशाली था अर्जुन कि उसे कृष्ण ने बचने नहीं दिया। खूब खबर ली उसकी—"क्या बालिशता की बातें करता है? क्या 'अशोच्य' का 'शोचन' करता है? भीतर क्या पड़ा है? कहाँ तेरी कमज़ोरी पड़ी है?"

अन्तर्मुखी दृष्टि

आप और हम कहाँ से रोज़ कृष्ण को लाएँगे? आँख अन्तर्मुखी करके यदि झाँकेंगे तो ऐसा कोई स्थान नहीं जो विशुद्ध चैतन्य से खाली हो। भक्तों की भाषा में, जहाँ प्रभु नहीं, परमात्मा नहीं, ऐसा कोई स्थान नहीं। वैज्ञानिकों की भाषा में, ऊर्जा नहीं, ऐसा कोई स्थान नहीं। जिसे आप जड़ पदार्थ कहते हैं उसमें भी चैतन्य की सत्ता ओतप्रोत है। आवरण किसी पर मोटा है, किसी पर महीन; किसी पर मुलायम है, किसी पर भारी। फर्क आवरण का है, सत्ता का नहीं। इसलिये यदि जिज्ञासा जागृत हो और जीने की इच्छा हो, तो समस्याओं में से, सुख-दुःख में से विषाद पैदा होगा। विनम्रता हो तो विषाद से बचने के

उपाय बाहर खोजने के बदले भीतर झाँकना शुरू होगा कि विषाद कहाँ से क्यों उठा, फिर संघर्ष के उत्पत्ति-स्थान स्वयं ही दिखेंगे, और संघर्ष-प्रतिकार से बचने की जो भी इच्छा है, उसको आप भीतर देख पायेंगे।

ग्रन्थों का जीवन से अनुबन्ध

तब कहीं जिज्ञासा हमें सत्यनिष्ठा तक पहुँचायेगी। नहीं तो रामायण पढ़िये, भागवत पढ़िये, गीता पढ़िये, रोज़ पढ़िये, कुछ नहीं होगा। जब तक जीवन के साथ उसका अनुबन्ध नहीं है, तब तक ग्रन्थों के पढ़ने से कुछ होता नहीं। यान्त्रिक क्रियायें निष्पन्न होती हैं, लेकिन वह काम तो कम्प्यूटर या वैद्युत मस्तिष्क हमसे अच्छा कर सकता है। टेप-रिकार्डर भी अच्छा कर सकता है। उसकी ज़रूरत नहीं है।

अनपचे ज्ञान से विकृतियाँ

जो शब्द पढ़ा उसका अनुबन्ध अपने जीवन के साथ न हो तो जिसका आचरण न हो ऐसा ज्ञान विकृतियाँ पैदा करता है। अहंकार भी एक विकृति है। अनपचा भोजन और अनपचे विचार, दोनों ही विकृतियों के जनक हैं। जो आचरण में न आयें ऐसे विचार ग्रन्थियाँ पैदा करते हैं, और प्रतिक्रियाओं में तोड़-मरोड़ या विकलाङ्गता लाते हैं। अन्न खाया और पचन नहीं हो सका, उसीका नाम बीमारी है। आज इस देश में हम सब पागल हैं इसका कारण है अनपचा ज्ञान, अनसमझी परम्परायें और अनावृत रहस्य। हमारे लिये सब बातें विश्वास और मान्यता बन गई हैं, विश्वासों के कारण श्रद्धा के प्रवेश के लिये कहीं स्थान नहीं।

ज्ञान-संग्रह

ज्ञान का संग्रह, विचारों का संग्रह और इसके द्वारा बुद्धि का शृङ्गार हम छोड़ दें। पढ़ लेना जीना नहीं है। जीवन के साथ अनुबन्ध रखना हो तो पढ़ें। नहीं तो पैसे की लालसा से पैसा इकट्ठा करने वाला व्यापारी और विचारों की लालसा से विचार इकट्ठा करने वाला विचारक इन दोनों में क्या फर्क रहेगा?

एक का परिग्रह भौतिक स्तर पर है, दूसरे का मानसिक स्तर पर। भौतिक परिग्रह की व्यवस्था आज के साम्यवादी कर रहे हैं। उसकी बहुत चिन्ता नहीं। ये जो मानसिक बौद्धिक परिग्रह वाले हैं, इनका क्या होगा? और उनसे जो विकृतियाँ पैदा हो रही हैं, वे जहाँ-जहाँ जन-जीवन की नाड़ियाँ हैं, उनमें समा गई हैं। उदाहरण के लिये शिक्षकों के हाथों में समाज की नसें हैं, और शिक्षा संस्थाओं में पागलपन का बोलबाला है। विद्वत्ता का, ज्ञान और विचारों के परिग्रह का ज़माना अब लद गया।

शोषण के स्तर

जहाँ बुद्धि का उपयोग है, उस क्षेत्र में हमारे जन-जीवन पर विद्वत्ता छाई हुई है। जहाँ अध्यात्म की बात चलती है, वहाँ अतीन्द्रिय शक्तियों का परिग्रह करने वालों ने जनजीवन अपने कब्जे में ले लिया है। देखिए न! कितना शोषण होता है। आप समझते हैं केवल पूँजीवादी ही शोषण करते हैं। हम और आप शोषण नहीं कर रहे हैं? अतीन्द्रिय शक्तियों का संग्रह और व्यापार करने वाले शोषण नहीं करते हैं? धर्म-संस्थाओं के नाम पर शोषण नहीं चलता? जितने प्रकार के शोषणों की कल्पना की जा सकती है, उन सबके नमूने आज भारत में देख लीजिये।

परिग्रह और शोषण

शोषण-मुक्ति का नारा अधिक, सामाजिक क्षेत्रों में उठना चाहिए। गलत रास्ते से उठ रहा है, ठीक रास्ते से उठे। लेकिन यह जो बौद्धिक, मानसिक और अतिमानस के क्षेत्र में शोषण है, उसके बारे में हमें सोचना होगा। फिर वह चाहे धर्मग्रन्थों की जानकारी का परिग्रह हो; विज्ञान, यन्त्रविज्ञान का परिग्रह हो; दर्शन, मनोविज्ञान या साहित्य का संग्रह हो।

परिग्रही शोषण किये बिना रह ही नहीं सकता। क्योंकि परिग्रह का संरक्षण शोषण के द्वारा ही होता है। शोषण गरीबी के आधार पर हो या अज्ञान के, बात एक ही है। शोषण का ज़माना आज लद गया और जितनी जल्दी हम इस बात को समझें, उतनी इस देश की भलाई है।

जिज्ञासा के अन्मु खी चक्षु

हमारे पास कोई देहधारी घनश्याम, नटवर, गिरिधारी नाम के व्यक्ति तो हैं नहीं, जैसे अर्जुन के पास थे, फिर आँख खोल कर बाहर देखेंगे और बाहर से कोई मार्गदर्शन ढूंढेंगे; लेकिन जिज्ञासा के चक्षु यदि भीतर झाँकने लगेंगे तो आप पाइयेगा कि वहाँ विशुद्ध चैतन्य में, जिन्हें आप पार्थसारथि कहेंगे, वे उपलब्ध हैं। कविहृदय था भारत का, तो रूपकों में, अलंकारों में, काव्य में बोलते थे। आज तो विज्ञान के स्पर्श से रसिकता मुरझा गयी है। इसलिए भक्ति की मधुरता भी आज किसी की समझ में नहीं आती। परम्परावादियों, परम्परानिष्ठों ने बेचारी को और भी कुचल डाला है। इधर एक ओर विज्ञान है और दूसरी ओर परम्परा के कलेवरों को लेकर जीने वालों का व्यवहार है। दोनों के बीच रसिकता ऐसी कुचली जाती है कि खून के आँसू बह सकते हैं। इस हालत में से आपको और हमको उठना है।

[आरम्भ में ही निवेदन किया था कि प्रवचन हम नहीं कर सकते। मनोरंजन, बुद्धिरंजन नहीं, स्वजनों से संवाद हो सकता है। वही यहाँ पर कर रहे हैं।]

जिज्ञासा के चक्षु जब भीतर झाँकने लगेंगे तब आप पाइयेगा कि जिज्ञासा की विकलता में ही अनुभूति के उन्मेष छिपे हैं। जिज्ञासा समस्या को विनम्रता से देखने लगे तो अनुभूति के अङ्कुर उसमें से उठने लगते हैं। अनुभूति के लिए दूसरी भूमि की जरूरत नहीं। धरती जिज्ञासा की हो, जल विनम्रता का हो, हो जाइये अन्तर्मुख। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें प्रभु का निवास न हो, आत्मा की सत्ता न हो, तो आप और हम कैसे रिक्त होंगे? "हम तो सामान्य हैं, हमसे कुछ न होगा" यह कहना ज़िम्मेदारी उठाने से बचना है। यह कायरता है, भीरुता है। मनुष्य इतना परिपक्व हो गया है कि अपने भीतर देख सके।

यह जिज्ञासा की छटपटाहट ही प्रभु-प्रेम का विरह है। उसकी विकलता ही अनुभूति के आगमन की आहट है और यह कोई काव्य नहीं, जीवन का तथ्य है।

फिर समस्याओं के धागे जो दिशा, विदिशा में फैल रहे हैं, बिखरे हैं, वे आपके हाथ में आने लगेंगे। उन धागों के कारण जो ग्रन्थियाँ बनी थीं, वे ध्यान

में आने लगेंगी कि कहाँ कौन-सी ग्रन्थि कब बनी कैसे बनी? अवधान के आलोक में अन्तर्जीवन को लाने का पुरुषार्थ-मात्र करना है, तो फिर मार्ग-दर्शन भीतर से मिलेगा। भीतर बाहर का भेद तो आपके हमारे चर्मचक्षुओं के लिए है। जीवन में भीतर-बाहर कुछ नहीं, वह तो अविभाज्य सत्ता है, अखण्ड है। हम नहीं देख पाते हाड़-माँस के भीतर, इसलिए कह देते है बाहर-भीतर।

जन्म-मृत्यु की सीमाओं के बीच ही हम देखते हैं जन्म से पहले और मृत्यु के बाद हम नहीं देख सकते। ये 'पहले' और 'बाद' शब्द भी जो आये हैं, वे भी समय का जो प्रतीक हमने बनाया है, उसीके कारण आये हैं, नहीं तो समय का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। लेकिन हमारी देखने की मर्यादा है। बुद्धि जन्म-मृत्यु इन दो बिन्दुओं के बीच ही देख सकती हैं। 'पहले' और 'बाद' इन शब्दों का जन्म किस भ्रम में से हुआ इसमें नहीं जाइयेगा तो शब्दों के जो सहचारी भाव हैं, उनसे मुक्त होना संभव नहीं होगा।

जिज्ञासा को विनम्रता का जल दे कर भीतर मुड़िये, भीतर देखिए तो पार्थ-सारथि वहाँ भी है। घोडों की लगाम थामने वाले वहाँ बैठे हैं।

साकार और निराकार

आप चाहेंगे कि आपने कृष्ण की जो छवि देखी है, वही आपको दिखे। हमारा आग्रह ऐसा है कि जो ज्ञात है उसके गुण और आकार में ही निराकार को आना चाहिए। प्रभु के पास भी जायेंगे तो अपने ही आग्रह लेकर जायेंगे। "इन गुणों के साथ, इस आकार में, इस रूप में आइये।" तो जो छवि देखी है, उसी में उसको आरोपित करना चाहें तो निदिध्यास से आरोपित भले ही कर लीजिए। जहाँ सब आकार समायें हों, उन्हें एकदेशीय आकार में कैसे बाँधि-येगा? जिसमें सब आकार समायें हैं, उसे निराकार कहते हैं, सब गुण समाये हैं, उसे निर्गुण कहते हैं।

इसलिए जो घोडों की लगाम थामने वाला, इन्द्रियों का व्यवहार मन और बुद्धि के साथ कैसे जोड़ देना चाहिए यह दिखाने वाला चैतन्य प्रभु है, वह हमारे

भीतर भी है। समस्याओं के धागे हाथ में आने लगेंगे, लगाम थामने वाली शक्ति भीतर से जागृत होगी, और जीवन का काया-पलट हो जायेगा।

उपसंहार

किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के पास हमने विधिवत् अध्ययन नहीं किया है, इस लिए गीता, वेद, उपनिषद् पर बोलने के अधिकारी हम नहीं हैं। धर्मग्रन्थों, शास्त्रों को विधिवत् पढ़ा नहीं है। जीवन जीने से ही फुर्सत नहीं रही, इसलिए इन ग्रन्थों पर बोलें तो अविचार, अमर्यादा हो जाती है। अपनी मर्यादा व्यक्त करने के बाद भी जब कहा गया कि बोलना होगा, तो दो-चार बिन्दु जो जीवन-सिन्धु के हैं, उन्हें शब्दों में उँडेल कर आपके सामने रखा है। जिन्हों ने आपके और हमारे बीच शब्दमय संवाद का यह अवसर उपस्थित कर दिया उनकी अनुगृहीत हूँ।



: ६ :

समय—सायं ६ बजे

दिनांक २१-२-७१

समापन-संवाद

अच्छा होता, कि श्री रोहितजी मुझे धर्मसङ्कट में न डालते। समापन-सभा में मुझे नहीं बोलना है, ऐसा ही सोचा था। किन्तु बुजुर्गों की अवज्ञा सीखी नहीं हूँ। गुरुजनों की इच्छा ही जीवन में आदेश रहा है। जो सुन्दर प्रवचन अस्खलित वाणी में अभी हमने सुना, जिसमें मेरा हार्द नितान्त सुन्दर रीति से व्यक्त हुआ, उसके बाद कुछ भी बोलना अरसिकता है।*

यहाँ शिविर का आयोजन नहीं हो सका। जब एक-साथ रहने की सुविधा नहीं थी तो प्रवचन-माला ही नाम दिया जाता तो अच्छा होता। शिविर का अर्थ है कुछ जिज्ञासुओं का साथ रहना। सहवास जीवन का एक आयाम है। सान्निध्य की अपनी भाषा है। स्पर्श का अपना काव्य है, सङ्गीत है। स्पर्श, सहवास, सान्निध्य में जो घटित होता है, वह दिन में दो घण्टे के शाब्दिक संवाद से घटित नहीं हो सकता। श्रोता कितने ही सावधान हों, वक्ता कितना ही कुशल क्यों न हो, वह घटित नहीं होता, क्योंकि उसमें आंशिकता है। सहवास समग्र कार्य है।

शिविरों का जो प्रयोजन चित्त में है, तदनुसार पिछले छः वर्षों से पश्चिम के देशों में उपक्रम चला है। कम से कम सात दिन साथ रहना होता है। साथ रहना, भोजन बनाना, खाना, परिश्रम करना—यह सब होना है। यहाँ ऐसा न हो सका। दिक्कतें बताई गईं तो मैं मान गई कि प्रवचन और चर्चा-सभायें ही सही। उतना ही सहवास, सत्सङ्ग होगा।

विश्वविद्यालयों में शिविर हों तो आधी संख्या प्राध्यापकों की और आधी

---

*श्री रोहित मेहता का समापन-भाषण अंग्रेजी खण्ड में यथास्थान देखें। संपा०।

छात्रों की होगी, ऐसी आशा रखी जा सकती है। (किन्तु यहाँ छात्रों की संख्या नगण्य रही)। मेरे पास तो कोई संगठन नहीं, कोई प्रचारक नहीं। कुछ व्यक्तियों के प्रयत्न से यहाँ यह अवसर उपस्थित हुआ। विश्वविद्यालय ने आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया, जिसकी कल्पना नहीं थी। इसे मैं शुभ लक्षण मानती हूँ।

छात्रों और प्राध्यापकों के साथ बैठ कर, आज के विकृत मानस की, तनाव-दबावों की अवस्था जो चल रही हैं, उसकी चर्चा हो सकती है। यह अवस्था क्यों है ? सन्तुलित व्यवहार का वरदान व्यक्ति पा सकता है या नहीं, इसकी चर्चा यहाँ की। आखिर छात्रों और प्राध्यापकों के साथ और क्या चर्चा की जा सकती है ?

युवा मन वह है जो समस्याओं के सामने हारता नहीं है। बूढ़ा मन भूतकाल की स्मृतियों में बह जाता है, और भविष्य के सपनों में क्षीण हो जाता है।

शिक्षण-संस्था को पवित्र मन्दिर का स्थान समझ कर मानव की समस्या के जो मूलभूत अङ्ग हैं, उन्हें खोल-खोल कर देखने का प्रयास किया।

धर्म से, अध्यात्म से खतरा नहीं है। स्वार्थान्धता, असन्तुलन, प्रमाद से खतरा है, और वह आप में और मुझ में है।

श्री रोहितजी ने अभी कहा कि क्रान्ति के आज तक के सब प्रयास विफल हुए। अब तो जीवित व्यक्ति ही क्रान्ति के केन्द्र होंगे। आन्दोलनों के, संगठनों के माध्यम घिस गये हैं। अब तो व्यक्तिगत आचरण के, व्यवहार के आयाम को खोजने की वेला है।

'ध्यान', 'अध्यात्म'—इन शब्दों के साथ सहचारी भाव बड़े दूषित हैं, और इसकी ज़िम्मेदारी हम लोगों पर है, जो धार्मिक, आध्यात्मिक कहलाते हैं।, और शोषण करते हैं। उससे हम बरी नहीं हो सकते। दायित्व हमारा भी है। यदि हमें आध्यात्मिक, धार्मिक व्यक्तियों का प्रतिनिधि समझा गया हो तो पाप का प्रक्षालन करने आये हैं।

कभी न कभी मनुष्य को मन और बुद्धि से परे जा कर, वहाँ जो चेतना का

आयाम है, उसमें जाना पड़ेगा। समस्या मनुष्य की चेतना में पड़ी हुई है। उसमें गुणात्मक परिवर्तन होगा तभी क्रान्ति का नव-सर्जन होगा।

यहाँ तो 'शिविर' न होने के कारण इकतरफा बात चली। आप लोग तो प्रश्नों के माध्यम से और इस अन्तिम सभा में थोड़ा-बहुत बोले। एक-साथ रहना हो, और कुछ अधिक समय हो तो आप लोग प्रतिदिन बोल सकेंगे। भोजन के समय, घूमते समय बातें चल सकती हैं। शिविरार्थियों में आपस में बातें चल सकती हैं। तब सहजीवन की खुमारी, प्रसाद, आनन्द उपस्थित हो जाता है। ईश्वरेच्छा रही, तो मेरे द्वारा न सही किसी और के द्वारा यह होगा।

जिस मन के साथ जीना है, उसके स्वरूप का परिचय, मन की मर्यादाओं का भान और मन से संक्रमण करके आगे बढ़ने का आह्वान स्वीकार करने का साहस—ये तीन बातें इस देश के युवक के लिये उपस्थित हैं। इसे कोई टाल नहीं सकता। शिक्षक और छात्र इस ओर ध्यान देंगे, और एसे सहजीवन के अवसर उपलब्ध कर देंगे ऐसी आशा करते हैं।

बैठी हूँ काशी विश्वविद्यालय में। उसके आज के स्वरूप को ही नहीं, जन्म से आज तक देख रही हूँ। पता नहीं क्यों, इस स्थान के लिये मुझे एक प्रकार का स्नेह है। इसका जो इतिहास है, जो महान् विभूतियाँ यहाँ रह गई हैं, वे मेरे लिये आज भी वर्तमान हैं। आज हम बौने हो गये हैं, और उस अधिष्ठान को, दृष्टिकोण को नहीं सँभाल पाये हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आगे आने वाले भी नहीं सँभाल पायेंगे।

यहाँ चार दिन तक जो संवाद चला, वह मेरी श्रद्धाञ्जलि थी विश्वविद्यालय के संस्थापकों के प्रति, भावाञ्जलि थी उन विश्ववन्द्य विभूतियों के प्रति जो यहाँ रह गई हैं। जो वर्तमान हैं, उनके पास एक बहन का आन्तरिक संवाद या व्यथा को बाँट लेना था।

ऐसे शिविर होने चाहियें, जहाँ कोई गुरु बन कर, प्रचारक या शिक्षक बन कर नहीं आयेगा। सत्य का आयाम खोलने के लिए धारा के खिलाफ़ चलना

होगा। [मेरा कोई दावा नहीं है कि मैं मंजिल पर पहुँच गई हूँ। जीवन में मंज़िल या मुक़ाम है ही नहीं, निरन्तर गतिशीलता है।] वहाँ सखा के रूप में साथ जियेंगे। जिज्ञासुओं की जमात में, कोई आगे चला हो, कोई पीछे चला हो, लेकिन उससे क्या ? जिज्ञासु साथ जियेंगे और सहवास में से कुछ उपलब्ध होगा।

ऐसा नहीं कि यहाँ आप आये और कोई आपको कुछ देने के लिये बैठा था। आपको क्या पता कि मैं क्या-क्या पा गई हूँ इन चार दिनों में। जहाँ से रिक्त-जाना पड़े, उस स्थान पर दुबारा जाती ही नहीं। जीने का लोभ है मुझे। [जीवन से मुझे बहुत उत्कट प्रेम है, ओर कोई भी चीज़ जीने के प्रति मेरे अवधान को हटा नहीं सकती।] आपके पास से भी खाली हाथ नहीं जा रही हूँ।

सख्य के आयाम में आध्यात्मिक जिज्ञासा की प्रतिष्ठा क्यों न हो ? यह क्या जरूरी है कि हम भिक्षा-पात्र लेकर किसी के साम़ने बैठें ? उस सम्बन्ध का जमाना लद गया। आज के युवक उसे स्वीकारेंगे नहीं, और मैं खुश हूँ कि नहीं स्वीकारेंगे। अब तो चाहिये मित्रता के नाते बैठ कर दोनों ओर से रगड़-झगड़। सख्यमय वातावरण में, समता के अधिष्ठान पर बैठ कर सहवास होगा। आज अध्यात्म में यह होता नहीं है।

आप से हमें कोई अपेक्षा नहीं है कि आप सम्मान, श्रद्धा का भाव रखें। प्रेम रखें, स्नेह रखें, कृतार्थ हो जाऊँगी। जीवन ने कुछ अवसर जुटा दिये, परिस्थितियों की कुछ अनुकूलता हुई, इसलिये इस दिशा में यात्रा कर सके, इतना ही तो ! इसमें विशेषता कैसी ? यहाँ कई विषयों के डीन बैठे होंगे। उन्होंने अपने-अपने विषयों में समय लगाया होगा, इतना ही तो ! इसमें कौन-सी अद्वितीयता, असाधारणता है कि अभिभूत हो कर प्रणाम ही किया जाय। प्रणाम नहीं चाहिये। हाथ पकड़ कर साथ चलेंगे।

इस देश के जलवायु में, यहाँ के कण-कण में जो एक सनातन शक्ति भरी पड़ी है, जो सोई है, नष्ट नहीं हुई है, उसे फिर जगायेंगे। और नये मानव का जन्म इस भारत में हमारी आँखों के सामने, हमारे ही भीतर से पहले होगा, इस प्रकार की प्रेरणा परमात्मा आपको और मुझे दें।

यह सख्य का नया आयाम, सहवास का नया अधिष्ठान, और यह जीवन की गहराई में उतरने की शुभेच्छा मुझमें और आप सब में उत्पन्न हो।

यहाँ श्री रोहितजी और श्रीचावड़ाजी की उपस्थिति से प्रोत्साहन मिला। आप सब का सहयोग और सहभागिता रही। श्रवण के द्वारा भी तो सहभागिता होती है। आप सबको धन्यवाद और प्रणाम।

●

ENGLISH SECTION

Question-Answer-Session I

Question–1 (a) During silence or meditation, what is one to meditate on ? Nothing ? Or to remain as spectator and see how the mind acts ?

(b) Is it, in your view, not advisable to meditate on some form of God ? If so, how to meditate ?

(c) How is one to achieve concentration on some object ?

Answer : Since yesterday I have been trying my level best to clarify that meditation is not a cerebral, psychological activity, it is not a conscious activity on the part of the mind. 'I' in the 'I-consciousness' cannot meditate. Meditation is a state of the whole being and is not an activity of the limited brain.

That is the difficulty of the English language. The word meditation is derived from the verb 'to meditate upon', which indicates 'to contemplate about, to ponder over', it needs an object. It is an activity based on duality and nourished by duality. Mereover, it is an activity of the mind, a conscious psychological activity. That is what 'to meditate on' implies and 'Meditation' is an abstract noun from that verb.

The word 'meditation' or 'Dhyana' is being used here in a very peculiar sense, not in the ordinary sense. Meditation for me is qualitatively and dimensionally different from concentration. Concentration is the activity of the 'I-consciousness'; it is a cerebral, psychological activity in the realm of duality. To concentrate is to focus your attention, at a given moment, upon a given point. Whether you concentrate upon the concept of an impersonal God, or postulate a personal God with a form and colour, or you concentrate upon the attributes of God, personal or impersonal, or you concentrate upon the image of a Guru or Master, or you concentrate upon a 'Mantra'—the object may vary, but the relationship is the same.

You try to withdraw all your attention and energy from all directions and try to focus it on one point and you try to sustain that focussing. That is concentration. It is a mental activity and has many relative uses, many virtues. It sharpens the mind, enriches the memory, stimulates the latent faculties of the mind, the psyche. It enables one to take experiences in the transcendental, trans-sensual world. Life is not limited in the sense-organs.

Concentration is a mental activity and meditation is a state of being in which the mind moves not, in which the 'I-consciousness' functions not.

To ask what do I meditate upon seems to be an unscientific question. One could ask what do I concentrate

upon. Meditation is a state of being produced when a person observes. A person puts himself in a state of observation. He looks, he watches, does not analyse, does not compare, does not want to get anything back from that perception or observation, does not want to derive anything from that act. That state of observation is not possible unless one gets acquainted with the mechanism of mind.

With the mind comes the content of the conscious, unconscious and sub-conscious, the lanes and by-lanes of memory, the chemistry that functions. One has to get acquainted with all that. The intrinsic limitations of cerebral activity, the mechanistic nature of the movement of mind—all this has get to be clearly understood, before one can be in the state of observation. One understands the limitations of mind, not fighting against the mind, not trying to control the mind or to suppress its movements.

One has to use the mind accurately, precisely, there is nothing wrong with it. One must know that the limited, individual, conditioned brain has its own frontiers. It has the centre, the ego, the 'I-consciousness' and it has the circumference of knowledge and experience. This is the nature of mental movement. The mind does not help to find out that which is beyond the mind.

We have to say : let us find out if it is possible to discover personally, first hand what lies beyond the brain,

if at all there is anything we do not know. With the attitude of a scieitific enquirer, a researcher one says 'let the mind alone', it is not to be used in postulating or conditioning the reality beyond the mind by giving it a name. The moment one uses the mind, the 'I-consciousness' with the frontiers of experience and ·knowledge, not only personal but collective, will come back. So let the mind alone, let it be used in its relative field.

Let me find out what happens when the mind is not functioning. Do I die ? when the mind is quiet, does the whole life get paralysed when the mind moves not. Is not the mental or cerebral, the whole content of life ? All these questions will arise.

One does not have to force the mind into silence by any artificial means, by any techniques. To use any method or technique against the mind is a subtle violence; it is an aggression against that instrument. So without using any technique or method, without using any coercion against the whole brain, if you allow it to be quiet, what happens ?

The moment you allow the conscious mind to be quiet, the sub-conscious mind with the intimations of its content comes to the upper layer. It throws the intimations in the form of visions, dreams, premonitions, pre-cognitions and the moment they are thrown out, one gets fascinated by them.

It is easy comparatively to allow the uppermost layer of consciousness, the conscious mind to be quiet, but in the quietness of the conscious mind, the sub-conscious begins its movements. Then the trouble begins. The encounter with the sub-conscious brings about the intoxication of those visions, experiences. They capture and fascinate a person and instead of observing and allowing the sub-conscious to be quiet one tries to acquire those experiences, to possess them, to own them, so that one could say 'I have had a vision, I have had an experience.' The sensation of the whole thing.

To allow the total mind to be quiet needs tremendous courage. The intoxication of the inner world is infinitely more intoxicating than any intoxications of the sensual plane. If at all an enquirer allows the sub-conscious to be quiet, if he does not indulge in those experiences, then the unconscious, the deeper layer begins to move. It is moving already but we are not conscious of it. Now that layer gets exposed to your attention, to your awareness. If the enquirer has the austerity, the humility, the courage to let this whole mind, the whole consciousness remain quiet, then the movement of the unconscious would also be held in abeyance. But it is a great temptation to use and cash those experiences, to exhibit them, to demonstrate them, to show people how to do that, how to get there, to become a spiritual star and so on. It is not easy. It is only the deep intensity of enquiry, the urge to disco-

ver the ultimate truth that can keep the person on the path.

.When the total mind is allowed to be quiet, then an event takes place. If we allow the total psyche to be quiet, what happens ? With every movement of the mind a vibration was coming up, a vibration releasing an impulse in the electromagnetic apparatus i.e. the body—physical, psychological, cerebral. Every vibration—feeling a feeling, thinking a thought, a sentiment, brooding, bringing back the experience of yesterday to memory, is a movement. All these set into motion certain vibrational currents. These vibrations set into motion a chainreaction-process and tremendous energy is consumed in all this.

It is great fun to watch the movements of thoughts and feelings, to watch how they affect the blood-circulation, the breathing, the glance, the way you sit or stand up. Man is not aware of what he is doing to himself ! By recklessly, unscientifically using the mind, the brain, the memory, what damage he is doing to his inner being ! He is not aware. That has been left to religious teachers, psychological experts and spiritual masters.

It is necessary for you and me to know how to live in a state where vibrational disturbances will not affect the equilibrium of our totality. It is absolutely necessary to live there.

The modern world has tremendous pressures leading

to neurotic tendencies. When the whole mind is quiet, when it is silent, if at all you allow it to be silent, what is it that takes place ? Silence of mind is no problem, our desire to possess and own is the problem. Events in life will take place, but we want to convert every event into an experience, give it a name, own it, possess it. The vested interest in the occult and the business going on there is a devastating thing.

If you allow the total psyehe to be silent, then no vibrations are coming up to disturb the equilibrium. Energy is not running into different directions. When you have contradictory desires, energy is dissipated, scattered in various directions, contradictory ambitions, incompatible desires, inconsistent thoughts all, these torture your mind. Energy has to run wild.

When the mind is allowed to be silent, the scattered energy can go back to its own source. The source of energy is at the base of the spinal chord and at the naval point conne-cted directly with the crown of the head. You may put it as in a triangle if you please. Se the energy that is scattered day and night is consolidated. The divided, fragmented energy for the first time gets an opportunity to go back to its source.

Silence is not a negative state, it does not lead to vacuuum or emptiness. It is a tremendous event if you allow it to take place within you. The totality of energy

going back to its source can be in its whole entity, not fragmented, not divided.

Uptill now the energy had to ride the momentum of your thoughts, feelings, desires. Now it has its own infinite momentum. Energy is never static, it has infinite motion. So this totality of energy moves with infinite motion within itself.

One day man will have to discover this phenomenon of inner space. This is not mysticism. Truth is simple, reality is simple. If we have the elegance of innocence, all the so-called mysteries will uncover themselves for us.

Self-discovery is the consummation of human nature. Every human being has to go there to find himself and to live in the awareness of his whole being. It is the ignorance of man about himself that breeds misery and sorrow in this world. When I talk about the infinite motion contained in the wholeness of that energy, I am not talking poetry, it is not mysticism. As there is no vibration there is no tension.

Thought creates tension, emotion creates tension—chemical tension, nervous tension and to be in a state of tension is to be neurotic. When the nervous system is under some pressure, when the chemistry of the body is disturbed, the perception gets distorted, twisted. Anything done under tension, under pressure is done in a neurtoic state and we live in a neurotic state day and night. Man

is not aware of that. Only when the neurotic tendencies become acute, do we become aware of them. Otherwise man has lost the grace and the elegance of relaxation. Innocence is relaxation, humility is relaxation.

We do not know how to live in relaxation. We think living in a state of tension is the way of life, It is not. To live is to be free, to move with the movement of life, to be relaxed. When there is no tension created by stimulation, by the movement of mind, when there is total relaxation, then the infinite movement of that total energy begins to express and manifest itself.

Energy is the principle of intelligence, not intellect, not brain. Intelligence is sensitivity, unobstructed, uninhibited. That is love, give it the name you like. Love, intelligence, sensitivity, to me imply the same thing.

A new energy, intelligence gets released. The person is the same, but that tremendous event releases boundless sensitivity. The whole being becomes sensitive. The man listens, sees with his whole body. The perception and responses get totally transformed.

Silence of mind results in a qualitative transformation of perception, audition and responses. It is a new dimension of consciousness into which one has to grow; live in and act out it.

Question 2 : How to get rid of baser passions ?

Answer : What is 'baser' ? What is lower and higher ?

Passion is a passion. In a scientific approach to self-understanding it will benefit the enquirer if he could avoid the overtones and undertones of ethics, morality and religion. The association of religious or ethical overtones and undertones will create certain complexes leading to inhibitions. No discovery can take place when there are inhibitions and complexes.

There is nothing to get rid of in life. There is everything to understand. To get rid of, to renounce, to suppress, to deny, to neglect—these are all unscientific, unwarranted approaches. Understanding has its own momentum, its own dimension. When I understand things as they are, poison as poison, there in no independent effort needed to renounce the poison, to get rid of the desire to drink the poison. The only thing necessary is to understand what poison means, the content, the ingredients of poison, its relationship with my physical and mental being. If the understanding comes, the independent effort to get rid of the desire to drink poison is not necessary.

Uptill now that has been felt to be necessary because man has been following the way of knowing about facts. Man has not been educated to get into touch with reality directly, immediately and intimately. This indirect way of knowing about facts and then acting according to that knowledge has been the way of living. And to be spiritual is to be intimately and directly in touch with reality every

moment. Knowledge being static, has no dynamism of its own. So you acquire knowledge and then you provide incentives to implement that knowledge into behaviour. This is the process.

With understanding it does not happen so. You understand and understanding has its action upon your totality. The explosive dynamic force of understanding has not been tackled by man. It is a tremendous force, infinite momentum.

So one has to understand what passions are. Perhaps the word passion is used here for 'Vikara'. The word passion in the English language has not get any odour. It means intense interest in life, intense love for life. Jesus was 'a man of passion'. Louis Fischer described Gandhi as 'a man of passion'. It is an intense urge to live, a love of life. That word is singular, it cannot be used in plural number. Here it is used in plural as a translation of a Hindi or Sanskrit word.

The passion for life, love for life cannot be suppressed by anything. So there is no baser or higher passion, good or bad passion. It is an amoral, non-moral word. We are perhaps concerned here with the question how to get rid of baser emotions or feelings.

What is 'base' or 'baser' ? What is bad ? What is evil ? I do not know. I know maladjustment emotional, intellectual ; lack of adjustment due to lack of understanding.

How to divide life into good or bad, good and evil, virtue and sin ? Excuse me, I do not know what sin is, what virtue is. And these words have crystallised so many complexes in human life. Man lives more according to his complexes than according to his understanding.

If a man gets angry, is anger an evil passion ? If a man is sexually obscessed, is he a sinner or one who has not understood sex in relation to his total life, the nature of sexual urge and what it does to the whole of his being ? A man is violent. All this may sound very Utopian to you, but when one sits down to discuss things as they are, one has to go through all this. To me all this is lack of understanding. Anger, Jealousy, envy are pranks of defence-mechanism erected by the ego, nourished by the ego, used collectively by countries, nations as weapons.

Anger is an evil thing when a person uses it in his family or community; but when nations get angry and run at one another's throat, what happens in wars and battles? Then every citizen loyal to his country righteously gets angry and anger becomes a respectable value. Then violence becomes a respectable value. How can a thing become respectable in one field of human activity and a base passion or emotion in another field of human life ? How can you divide life and fragment it like that ? If anger is something unhealthy in relation to one individual or members of a family, how can it become respectable when it comes to two countries and nations, whether it is Israel and U.A.R. or India and Pakistan ? Look at the tensions

on the faces of Hindus and Muslims. Utter the word 'communism' in America and see what happens to the domocracy–loving American ! Utter the word 'Russian Communism' in Peking and see what happens to the Chinese. Oh ! we are living neurotically. The amount of neurotic tendencies, insanity under which we are living to-day !

I do not see any necessity of dividing and fragmenting life. If there is anything evil it is this fragmentation and division. Anger, violence have persisted in human life not because the human animal is so bad, but because man divides life; he worships some things as virtues in one field of life and calls them evil in another field. That is why they have persisted.

One does not have to get rid of anything, but one has to understand, and understanding is a fire that purifies the whole being. A person cannot remain in a previous state of consciousness after he has gone through the event of understanding. Personal discovery purifies. There is no duality and division in the moment of understanding. You as a whole entity understand. When you know, it is not the whole of you that knows. It is the brain, the intellect that knows. You know and you know that you are knowing. Knowing being a partial activity you can be aside that activity of intellectual acquisition. "I have acquired this knowledge. Now what do I do with it ?" So knowledge is a partial activity and you can remain as an outsider, but in understanding the whole being is involved. The whole being understands. It is a total action. ●

Question-Answer-Session-II

Question 1. What is the function of sex in life; and what is the state of being in which sex-relationship is not necessary ?

Answer : The question pertains to the function of sex in total life, the life of the individual as well as the life of society i.e. collective life. Life is relationship. Life does not exist in isolation. Life is a movement that comes into existence or is stimulated when two persons come together. To live is to be related. What you eat, what you drink, how you sleep—they are not only your individual functions in isolation from society. Your relationship with your food, your sleep, with the sexual urge is as much the concern of the people with whom you live as it is your own.

Individuals cannot isolate themselves from the collective and then think of their own problems, whether it is the problem of the mind or the problem of sex. Needless to say that sex is related to the process of reproduction. It is functioning at the mineral level, the plant level and the animal level, but in the human being the function of reproduction does not remain only a simple and pure rep-

roductive process. When a human being emerges out of the animal his consciousness undergoes a radical change.

Animals are endowed with simple consciousness. Animals can feel, can think, can respond, can have memory; they are capable of cerebral movements. They have receptivity, power of retention and the power of invocation. But the animal is not capable of self-consciousness. It feels, but is not capable of knowing simultaneously that it feels. It responds but is not aware that it is responding. It is not capable of being aware why it is responding in a particular way and not in another.

Man is gifted with self-consciousness with a dual role. Man knows and simultaneously he knows that he knows. If he is sensitive enough, vigilant enough he knows why he acts in a particular way.

The emergence of self-consciousness is accompanied by a new responsibility which the animal world does not have. A sense of responsibility always accompanies emergence of new potentialities and qualities. Human beings are responsible. To be responsible for what one does, that is the beauty of human life.

Today people do not like it. They want to live like primitive human beings who had not developed their brain. They want to go back to the primitivism of instinctive behaviour. They want to imitate the animal world. This

drive backward is so prevalent in Europe and America that one gets astounded and dumb-founded. Why this hunger ?

I was in a commune in California in Dec., 70. About 1,200 men and women under the age of thirty live on 500 acres of land in fifty communes. The way they live under the ground, between the trunks of trees. Unkept hair, dirty, filthy, full of squalor; rejecting the whole American way of life; And their relationship to sex is as primitive and as instinctive !!

Man connot go back to primitivism. He has developed the brain, the most sophisticated, complicated and rich instrument at his disposal. He cannot reject it. So the sonse of responsibility cannot be thrown to the winds. Whether man does it in the name of sexual freedom and sexual revolution or in ihe name of spirituality. The moment the sense of responsibility is thrown to winds man is no more a human being. He fs just a human animal.

The function of sex in human life will be different in quality from the function in the animal world. Here when the man and woman meet they can meet and they are to meet in love. Man is capable of that—not to dominate the other, not to possess or own the other, not to convert the other person into an instrument of one's gratification, not to use the other person as an escape, as a shelter, as a refuge. When that is done, the relationship to sex is inhibited, distorted, twisted.

Bringing into existence a new human being is to be done in love. The quality of love transforms the nature of sexual relationship. This is very important specially for the young people. The quality of the consciousness of the child that is going to be born is determined at the moment of conception. Education begins there. If the man and woman meet in anger, in disgust, in lust, in a possessive mood, the child is bound to suffer; its consciousness is to bound be damaged.

The poise that love gives, the relaxation that love gives is absolutely necessary. Then sex-relationship is an expression of deep love and companianship. And it is the joint effort of two individuals to bring about a human issue which is better than both the mother and the father. It is a way of contributing to the human evolution and cosmic evolution.

Sex-consciousness accompanies I-consciousness. As long as one feels that one is a separate entity from the universal life, as long as one identifies oneself with the mind and the body, not saying that 'the body is mine and the mind is mine' but saying that 'I am the body, I am the mind',—sex-consciousness pervades every-thing that one does. The I-consciousness does not exist without the sex-consciousness. 'I am a man, I am a woman'.

As long as the sex-consciousness covers your vision you will never see a human being. You will see either a

man or a woman. So the other human being becomes an object of admiration, adoration, indulgence or contempt. I-consciousness accompanied by sex-consciousness prevents you from meeting the other human beings. You are related to the beauty or ugliness of the body; you are related to the ignorance or erudition of the brain; you are related to the conformism or non-conformism of their way of living. You are not related to the human being at all. You cannot see the essence of the human being. The gaze, the glance is contaminated by the sex-consciousness.

As long as one lives in the frontiers of brain, in the ego-consciousness imprisoned in the frontiers of mind, sex-relationship in one way or the other, becomes a necessity of life. Whether you canalise it properly in a scientific, sane and healthy way or you allow it to run wild is a different question.

There are ways of transcending the frontiers of mind and brain. There is much more to human consciousness than the conscious, sub-conscious and un-conscious mind. When you transcend, when you are gone beyond the frontiers of brain, the cerebral movement and have arrived in a consciousness where there is no centre and no circumference, then sex has no meaning.

Not that one denies its existence, not that one tries to suppress, deny or repress. That is an absolutely juvenile and unscientific thing, but one enters and gets esta-

blished in a state of consciousness where the body and the mind, the outer shells, their forms, colour, peculiarities become absolutely nil in the unity of life that one lives in that state. That way of life becomes the source out of which the gaze looks. The glance, the gaze penetrates through the shell of the body and the mind directly and immediately, with the untapped, unexplored, unconditioned part of consciousness. In India they call it the soul, the spirit, the 'Atman'.

But a scientific enquirer cannot indulge in using terms that are heavily loaded with associations and which release their tensions and chemical pressures. So sex-relationship does not remain a necessity, it becomes unrelated to meeting people and living with them, the moment one has transcended the whole brain or the conditioned brain.

Question 2 : How far, do you think, the institution of marriage is helpful in regulating the proper function of sex; how far is it a hindrance to freedom and love ?

Answer : We are living in a sex-oriented civilisation. Let us not talk about love. We do not know what love is. It is a very tender flower that grows in the unity of life. Awareness of unity is the only soil where love can grow. As long as we live in the realm of duality, in the 'me' and the 'not-me', in the 'I' and 'mine' let us not talk about love.

The word love is used here for the feeling of attraction stimulated by the tension that is felt when members of the opposite sex come together. As soon as they are present in one place they feel a kind of tension. Sex-consciousness does create tension. So the opposition of sex creating a tension and that tension releasing either a feeling of blind attraction, infatuation or a blind repulsion—that is not love. But people call it love. Intellectually developed people come together and they find that their thoughts are alike, their patterns of thinking and feeling are alike, their patterns of reacting to situations are alike and they feel a kind of affinity and attraction for one another. That is not love.

As long as I want to own you, as long as I want to use you as a means to an end I cannot utter the word love, whether there is marriage or no marriage.

The institution of marriage as it exists to day in the Hindu, Muslim, Roman Catholic or any other community is a hindrance. But what are people doing in Europe and America in the last 25 years specially eversince Sartra talked about his existentialism, in the name of sex revolt and sexual freedom and revolution ? One does not find the breeze of love whispering into the ears of those people. They have only succeeded in rejecting established patterns, but rejection and revolt is not revolution. They have not arrived at a new dimension of consciousness where

human beings would love and live together. Either there is promiscuity, homo-sexuality or indulgence in sex wherever boys and girls come together. Indulgence is as detrimental as suppression if not more. And today is the cult of sex and the cult of indulgence.

So the institution of marriage is a hindrance for different reasons. But licentiousness and indulgence is also a hindrance for love to come into existence.

Now what is the institution of marriage ? How did it exist in the Vedic or Upanishadic times in ancient India when the wise persons had once inhabited this land ? Whatever has percolated through centuries and through the pages of history can become a help if one cares to study.

The human animal is dominated by the I-consciousness and the organised religions, the moralists tried to canalise the instincts in a way congenial to collective welfare. So you get married and live with a woman or a man. The instincts, animal and human are gracefully satisfied in peace and relaxation, creating a family around you.

But the moment one partner becomes more important socially, economically, culturaliy, religiously, then the beauty of marriage is lost. The institution of marriage was not brought into existence so that man should ominate over the woman or vice versa. But economic factors entered the family unit and man being the head of the family, the earning member, the protector of the family, he became the protector of woman. The protector has got

every right for agression and the woman goes through the agression because she earns security in exchange. That is not marriage.

A sexual relationship harboured under the strains and stresses of domination, agression, submission and yielding in exchange for security, buying stability and security in exchange for sexual relationship—that is not marriage. That is not living together. not a family. That is why I said that the institution of marriage as it exists to-day in India or any other country of the world, has lost pliability, the basic charm, the grace. The purpose of marriage is to bring two human beings together to flower into a beautiful joint life. That is lost because man lived in society and the socio-economic context, the cultural and political context brought its own pressures and tensions. And the institution of marriage went on cracking under it. What you have to-day is the dead form of marriage, not its content.

Question-3—Does the mind come into being after the birth of the physical body or does the mind exist prior to it ?

Answer—If the questioner has attended any of the talks here, he would remember that mind is not individual. Mind is a product of collective human effort. What the individual contains is an expression of that collective mind. So the collective mind does exist before the birth of the human child. It does not begin with the child.

Question-4—How does self-consciousness come into being and why ? What is the use of self-consciousness and what are the hindrances that it creates in the operation of Intelligence,

Answer—It is a product of the process of evolution. Out of the water the plant world came into existence, out of that the animal world and out of the animal the human being. The state of consciousness in the minerals is diffe-rent from that in animals. In the process of evolution man emerged with this self-consciousness which has a dual role.

What is the use of self-consciousnes ? It has tremendous uses. The whole culture and civilisation is due to this capacity of self-consciousness. We know and we know that we know. I act and I know why I am acting in a particular way. This self-consciousness gives human beings the capacity to create symbols for collective human relations.

Language is a symbol. It is a kind of coin, currency that man has created. The idea of giving names to human beings in order to discriminate them from one another is a way of using symbols. Name is a symbol. It gives the con-venience of collective relationship; it does not indicate your essence at all.

It is the silliness of man that he asociates himself with that name so heavily that he thinks that name, he is that name, he is that form. Forgetting how we create the

symbols, we mistake them for the reality and live in the world of concepts and symbols.

Self-consciousness gives you the capacity to create time.

Yesterday, to-day, tomorrow, hours, minutes, days, weeks, months—do all these exist in reality? Man has created them because he could not stand the perception of the totality, he could not bear the intensity of that perception of the totality and so he divided it in hours, days, months, years.

What are the numbers in mathematics? Man has created them because he is a self-conscious animal. Arbitrarily he decided the relationship between these numbers and the whole science of engineering has blossomed out of the relationship of numbers. Man created the point without length and breadth and on the supposition of point the whole science of geometry and trigonometry developed. Sculpture, art, construction of buildings, bridges, building space-crafts—all this is based on the supposition of point.

If you ask a scientist what a point is, he will say that it is without magnitude, length and breadth. Can you conceive such a thing? And what is a line but a continuation of these supposed points?

Man created those concepts and symbols out of self-consciousness. Social and natural sciences evolved; philosophy, literature, music, art—all this enrichment of human life is due to self-consciousness. So we are grateful to the self-consciousness of human beings for the sophistication of brain.

We created the concepts and symbols, created language, developed the art and scienee of reducing concrete experiences to abstract concepts. The art of communication, not gesticulation alone, is the achievement of man. He did all this. But then gradually he forgot that these were concepts and symbols, that these were means of communication. The means became the end for him and he started getting entangled. Thoughts and the ways of thinking, feeling and the ways of feeling and the patterns of behaviour crystallising out of these concepts and symbols became more important and the conceptual and the symbolic world was confused for reality. There he went wrong. So ideological imperialim, emotional domination, aggrandizement through occult powers--all this came about.

The sophistication of the brain made man forget that there may be something beyond the brain too. The cerebral movement is not the totality of the movement of life. He forgot that and got stuck up.

Somehow to-day we are living in a very thrilling age, a romantic era when all the age-old and worn out theories, norms, standards, criteria are tumbling down; when all the theories of economics, politics, philosophy, psychology are being crushed to nothingness, all the organised religions are collapsing. Metaphysics is coming more and more into the realm of physics. So all that is collapsing.

Everywhere there is a hunger for discovering what is

beyond the brain, behind the symbol, beyond the concept. Look at the young people in Europe and America. (Not so much in India because this is a starvation-stricken, poverty-stricken land. The young Indian mind is brilliant, but it is harbouring under economic and political pressures. It can hardly express itself.) If you go to the affluence-stricken countries, you will see the cultural poverty that affluence brings, the callousness and boredom that affluence creates. Affluence impoverishes the human heart as poverty and starvation do. There the younger generation is hungry and thirsty for discovering that which is beyond the symbols and concepts.

To understand the limitations of cerebral movement will be a help to awaken intelligence. To understand the frontiers of the brain and mind is the beginning of transcendence itself.

Intellect can be a hindrance when it claims to uncover the secret of life. When intellect becomes aware of its own intrinsic limitations, then it becomes silent. Then it does not interfere any more. It does not wither away just as your skin cannot wither away. The knowledge and experience of the whole humanity can never wither away. It is there, but it does not interfere any more. It is there in abeyance. It is not in suspense because suspense has its own tensions; but it goes into abeyance. And when intellect and brain go into abeyance and relaxation envelopes you, then Intelligence begins to move.

Intelligence is the sensitivity of the total being. Sensitivity then vibrates through you. Intelligence is the vibration of that sensitivity. Previously it was blocked because the cerebral movement was constantly functioning, when that goes into abeyance, in that holy silence the sensitivity of whole being, which is of the nature of energy, moves in totalily. Energy is intelligence, energy is sensitivity. It gets released. Then only we begin to live as a human being and not as a human animal.

Then only the content of humanness expresses itself through the human form. To-day we have only the human form but not the content. We are dominated most of the time by animal instincts, habit-structure, fear, defence-mechanism, the urge for continuity, the urge for security. All these are animal instincts and they dominate to-day the individual life; hence they dominate and determine the nature of collective relationship. All that drops away. As simple consciousness gave way to self-consciousness, self-consciousness will give way to a new state of consciousness which is beyond the me and the not-me.

Question-Answer-Session III

Question 1.—the mind is so fickle. How can one control it ?

Answer—Why should one control the mind at all ? Who is going to control it ? This is the most important question. There have been techniques and methods of controlling the mind. We have to see what exactly we mean by the fickleness of mind and what is the context of our controlling it ? These two hold the key to the answer.

When I say that the mind is fickle do I imply that it is moving, wanderig hither and thither, running in all directions at the same time, and that movement has its own momentum not supplied by me ? When I say that the mind is fickle, do I mean that it moves on its own, by its own, I am not moving it ? I hope you see that the automatic, mechanisitic movement of the mind provided by the sub-conscious is indicated by the word fickle or fickleness. It is not induced by me, it is not stimulated consciously be me and yet it moves through the thoughts, feelings, sentiments, emotions. Mind moves through voluntary and involuntary reflexes, through so many ways and these may have not been cultivated by me. They have been fed into me, into my brain by society, by the parents, teachers, atmosphere, surroundings, religious and cultural activities,

socio-economic pressures etc. All these have been feeding into the brain a kind ot momentum. When I say that the mind is fickle, I have got a derogatory and unpleasant implication.

Understanding the mechanism of the mind will free us from any sense of derogation or condemnation about this automatic momentum which the mind contains. The first thing necessary is not to control the mind, but to see the movement and momentum which has been fed into it for centuries bygone. It has tremendous momentum and you as an identity, rather an entity on the conscious level cannot stop the momentum of centuries.

There is a momentum of the sub-conscious and unconscious and on the conscious level you want to set into motion a different, a parallel force or momentum through discipline, through morality by imposing codes of conduct on yourself through ideals, theories and so on. It is an effort to set into motion a momentum at the conscious level, parallel to the sub- conscious and unconscious levels. So first there was one momentum, now we are providing another and there is always a conflict and tension between the two and the struggle goes on.

Controlling the mind, suppressing, repressing it, choosing something from it, rejecting from within it—all this does not pay. Man the world over has tried this method of fighting the momentum of mind. It does not pay, whe-

ther they are Roman Catholics, orthodox Hindus, Jains, Buddhists. Every effort to control the mind indicates a resistance, a conflict within. Controlling is a kind of very sophisticated repression and every suppression exacts its own price in the form of some distortion and some twisting.

So I do not see the necessity of controlling the mind, I do see the necessity of understanding the mechanism of mind, how the mind works, how it has mechanistic movements, how it functions, how the thoughts, the feelings are not one's own, but are the products of collective activity. Let that perception, that understanding work upon your whole being. If you allow the understanding to percolate the layers of your being, if you allow your totality to be soaked in that understanding, then a kind of freedom from that momentum will come into existence. The momentum will be there, but then it will have no grip on you.

You will see the anger coming up, you will see the envy coming up, the lust coming up. The moment it comes up you are there to see it. Previously you were not there because you wanted to resist something. You cannot see what you resist because you are busy resisting, finding out the ways and means of resisting, fighting, controlling.

Let the mind and its movement be exposed to your attention, to your awareness and let the being be soaked

in that observation. Then the fickleness loses its grip on you. First the mind moves and for a fraction of a second you see the movement. As the sensitivity increases and deepens you see in advance how the mind is going to behave. So like the tide in the ocean it comes and goes over you without influencing your responses, without twisting them, without distorting them. So not controlling, but understanding is the way to live.

Question 2—Kindly clarify what mutation of the mind is.

Answer—Mutation is a word used in Biology generally in relation to an abrupt and sudden radical transformation in the form as well as the content of the mutant. It is not brought about slowly and gradually. It is not evolved through time and space with the help of some tecnnique or method. It occurs, it is not brought about. Evolution can be brought about, it can be helped, but mutation is an occurrence. It is an event.

What do I mean by mutation of mind ? It is a radical, qualitative transformation in the content of the mind, in the quality of the psyche, in the qnality of the consciousness. Mutation of mind is the challenge of the day. How to allow that mutation or transformation to take place within our own psyche ? Mutations cannot be planned, they cannot be cultivated in nurseries, they cannot be brought about.

Reforms, modifications, changes can be cultivated. This is not a modified or qualified change, it is a total change in the content and form of the mutant. The 'I-consciousness' being a part of the mind, cannot bring about the mutation of mind. The mind will never succeed in bringing about mutation.

Thus mutation is an occurrence that might take place when the total mind is silent. When the mind functions mutation cannot take place. Every movement of the mind deepens and strengthens the I-consciousness. So as long as there is the I-consciousness, the centre and the circumference will be there. So in whatever direction you move the mind, mutation will be postponed. It has to be realised very clearly, specifically and pointedly that no movement of the mind can bring about mutation. I cannot bring it about was the first point. Any movement of the mind stimulated by someone else cannot bring it about. That is the second point. The third point is that it is worth exploring if the dimension of silence is a factor which might help the occurrence of mutation.

We have not tasted the dimension of silence; silence is a dimension of life. We know the dimensions of activity and inactivity, we know the dimension of speaking and refraining from speaking. But silence is an entirely different, qualitatively and radically different dimension which has not been explored. It is worth exploring this dimen-

sion of silence which has its own way of functioning, which cannot be imagined or conceived by the mind.

So let the mind be free of activity as well as inactivity. If it is forced or compelled into silence that is not silence. That silence will be an experience of the mind. If you stimulate silence chemically or artificially, then again there will be the experience of silenc. Sir, silence that can be experienced, silence that can be called an attribute of the mind is not the dimension about which we are talking. That is beyond all movement of the mind.

In the spontaneous cessation of mental and cerebral movement relexation takes place, chemical, nervous and cerebral relaxation. And in this state of relaxation there is the possibility of an explosion or mutation taking place.

Question—3. In the state of meditation is the mind empty?

Ans.—The mind is denuded completely of all knowledge and experience. The consciousness is entirely naked, uncovered by any thoughts, feelings, sentiments, knowledge or experience. Would you call that emptiness? Some branches of thought and spiritual approach heve called it emptiness. If it is emptiness, it is the emptiness of space.

The space between you and me in this room is not empty in the language of physics. Is it empty of life, of movement or does space contain tremendous movement which we cannot measure by the yard-sticks that we have?

If you want to describe denudation by the yard-stick of thought and feeling, you might call it emptiness.

What is emptiness ? If at all mind is empty in meditation; it is empty like the space which is full of creative forces. It is the state of denudation. but there is no vacuum. Total relaxation is the content of that state and in that total relaxation the energy which is at the root of our existence can move with its infinite speed or motion. So silence is a dynamic force of life and creativity. Meditation is a state of being free from thoughts and feelings, free from mental activity as well as inactivity, But could one call it empty ? 'Empty glass, empty jar', that is the emptiness that we know. We know filling and emptying. That is not the kind of emptiness in meditation.

Question—4. Will you please clarify the subtle difference between 'Prapti' and 'Upalabdhi' ?

Answer : It is not easy to clarify this in the English language. Sanskrit is the richest language in the world and the nuances of meaning that can be clearly expressed in Sanskrit, one finds difficult to convey through English.

'Prapti' is to attain something which you did not have before, for which you not only had a desire, an urge, but you also had a vague picture of what you were going to attain. You have a destination and a very vague or a very clear picture of that destination. You knew ways and means of attaining it and then you went through the activity of

actual achieving and attaining and then you arrived. All these processes are included in the term 'Prapti' i. e. achievement or attainment. If it is intellectual you call it realisation, if it is pertaining to some experience, sensual and trans-sensual, then you call it achievement or attainment.

'Upalabdhi' is a phenomenon that comes into existence when two living creative forms come together. It is the creation of neither of the forces. You mix hydrogen and oxygen, H_2O. You bring them together, but you do not create water. When hydrogen and oxygen blend together, the chemical result is water which is not your achievement. It is a phenomenon that occurs. You may bring the positive and the negative currents of electricity together, but when they meet, the result, the light, is not your creation.

You can give scientifically the "how" of the blending, but not the "why" of it. When you give examples and analyze, they are one-sided. You cannot stretch them very far. But as water is 'Upalabdhi', in the same way when a person understands the totality of his being, the physical, paychological, psychic structure, understands how they work, function and lives in a state of harmony with the physical and psychological, he is prepared for the event of 'Upalabdhi'. A person can put himself chemically, cerebrally, nervously in a state of harmony between the physiological and the psychological. In that state of

harmony, when the ego or the I-consciousness is held in abeyance, then the blending of the consciousness limited in the flesh and bone of the individual and the consciousness saturated in the cosmos around him brings about a phenomenon that I call 'Upalabdhi'.

That is why no individual can ever claim that the ultimate truth or beauty is his experience. He can never claim. He who says he knows, knows not. He who says he has arrived, arrives not, because that can never be claimed by an individual. He may go through it.

So 'Prapti' is a result of the ego-centered activity of the I-consciousness, the mind, the brain, whereas 'Upalabdhi' is an occurrence, an event taking place in the self-effacing, in the denudation of the I-consciousness. The blending of humility and receptivity (please do not take them as ethical terms; for me they are scientific terms) puts you chemically in a state of being where the blending of the cosmic and individual, outside your skin and inside your skin, takes place.

Question : 5—The mind cannot remain without "Kriya" (activity) in one's wakeful hours. How is "Dhyana" possible without "Kriya" ?

Answer—The mind goes on moving. We have been trained to live through the mind. The content of our living is the reaction of the brain to any stimulus applied to our sense-organs. The mind reacts and is not capable

of action. The sense-organs coming into contact with their respective objects, release some impulses within you and they are interpreted by your brain. This activity goes on throughout our wakeful hours, because we have been told that is the way to live, this is the content of living.

The movement of mind has been confused with the movement of living. The first thing is to see how the mind moves unwarrantedly, unnecessarily throughout the day. One has to learn many things. One has to learn to use one's mind precisely and accurately only when its use is warranted, not otherwise. Otherwise the machine will be wasted. It will consume your vital energy and make you feel exhausted. One has to learn to use the mind only when the mechanical movement is necessary. I have to speak to a group of people who come from cross-sections of society, from different branches of knowledge and I have to speak in such a way that all can make some sense out of what I am communicating. I have to use the mind for finding the words.

Thus in using the mind one has to use it sharply, efficiently, faultlessly, as far as it is humanly possible. That is the beauty of using the mind. But when the mechanistic activity of the mind is not warranted, let the mind alone so that you have space and silence between the activities.

You wake up in the morning. Do you wake up fresh

or stale ? Have you to drag yourself out of your bed, or do you leave it gracefully without any objective compulsions ? The way you take your bath, breakfast, the way you walk to your office—all those things, if they are repetitive, if they come out of a habit-pattern, then the mind is being used, it is active. If they are not repetitive, if they are creative, then something else, sensitivity and intelligence, are being used and not the mind, not the brain. So in waking hours one has to reduce the field of mental activity, to create space between two activities, the space of silence and to increase the area of silence.

This is the first step that one can take in the direction of the meditative way of life, viz., to use the mind when warranted, to use it precisely without prejudices and preferences, to use it accurately, sanely, without any neurotic pressures. The moment you have space between two activities, in silence—this is the way of putting oneself into the state of meditation which is free from mental activity.

The question is—how can there be meditation without a "Kriya", without a mental activity ? Concentration is an activity. You have to focus your attention on something. Meditation is not an activity of the mind. Your proper relation with the mind, your acquaintance with silence as a dimension of mind, will chemically put you in the state of meditation. It is not your activity.

CONCLUDING REMARKS BY SRI ROHIT MEHTA

(Summarised version)

I suggest that whatever I say shonld not be treated as concluding remarks, but that Vimalji should give a concluding speech. Without that the camp connot be completed.

Having been a speaker for many years, I can say that Vimalaji has accomplished something impossible in the course of four days. She has covered a wide range and brought the subject of meditation to a focus.

What could be the success of a camp like this ? "Success" is a word associated with economic values which predominate today. If you and I do dot disperse completely disturbed, then the camp has failed. If we have really listened, we must get disturbed. Usually we listen in order to get confirmed in our own views, concepts, ideas, notions. The mind seeks security. It does not want something that disturbs.

Paul Telick has said aptly : "The modern man has lost one dimension and that is the dimension of depth." What Vimalaji has put before us is not something superficial. If it is just a sensation, it will subside soon. Then a camp like this is not worth the trouble it involves. We have been disturbed to some extent and we are forced to re-search our concepts, notions and established ideas.

Vimalaji has said again and again that meditation is not a matter of practice. She has explained the difference bet-

ween "Prapti" and "Upalabdhi". Meditation is not something that you attain, accomplish with the effort of the mind. It is something which descends. One thing is certain and that is—we have to move away from the idea of practising meditation. Then what can we do ? Nothing ? How far can we make effort ? When does effort stop ? What are tts limits ? All these points were touched by Vimalaji.

Why do we attend such camps and lectures ? Is it something urgent for us ? Or do we merely seek intellectual delight ? In the present civilisation much importance is attached to practical work. Meditation is regarded as unpractical. Really speaking, in the civilisation in which we are living today, with its deadlocks, problems, intricate situations, the meditative way is the only practical way for the individual human being. There is no escape; meditation has become imperative, if man has to save himself from total destruction. The way of meditation is the only way.

Man has developed the mind to an enormous extent. This century started with scientific fiction. The content of that scientific fiction pales into insignificance in the face of what is happening today in science and technology. Man was confident that he will solve all problems of life. The time has come when we must realise not only the possibilities, but the limitations of science.

Take any problem—national, international, psychological. What solution does the mind offer ? It has only two

solutions to offer—either that of resistance or of submission. There is nothing else that the mind has to offer. We have tried them for centuries in the so-called spiritual field, the moral field. Neither resistance nor submission has given a solution. Is there a third way ? Man is in urgent need of finding the third way, but that is not the product of the mind, it is not even a synthesis of the other two ways. It is completely different; it is meditation that enables us to discover the third way. Otherwise man goes down and it may become too late for him to recover the damage that has been caused by neglecting the third way.

That is why we need more such camps (this was not a real "camp") where we may remain together, thrash out the problems. explore the implications, so that we go out not merely as transformed individuals, but as individuals with a constant movement, with no settling down, no conclusion; so that we are "Aniketa" (homeless) in the psychological sense. The individual who is not satisfied with himself, will be the centre of total revolution.

We have tried all sorts of methods of revolution, but we are where we were. The fundamental problem has not been attacked. The fundamental problem is that there must arise individuals as centres of revolution. Arnold Toynbee, a great authority on world history, says that whenever a crisis has occurred in human history, there has always arisen a creative minority which has given a new direction to the stream of history.

The objective of camps like this is to bring into existence this creative minority which can bring about fundamental changes. Otherwise we shall be playing with patchwork. In the fulfilment of this need, Vfmalaji has turned our attention to some of the fundamental problems of life.

"Do not allow the flame of enquiry to get extinguished, because life and learning are co-terminus." The flame of learning is the flame of enquiry. The moment it is extinguished, we are dead. The difference between the living and the dead is that while the dead cannot learn, the living can learn.

The purpose of meditation is not to bring about a variation. I am using the terminology of biological science. It talks of heredity, variation and mutation. Heredity = going on as we have been going on; variation = establishing a new base within that heredity, a little modified structural change, new habits. This is being done by the so-called religious and moral effort. Meditation is not the continuity of the religious and moral effort, it is completely different.

In this land we have not made a clear distinction between religion and spirituality. We seem to be confusing the two. Religion is concerned with morality and morality is adjustment. If the circumstances change we need a fresh adjustment, but the end of all moral effort is adjustment. Spirituality is sometning completely different. Spirituality

is not the morality of effort. it is the morality of spontaneous expression.

"Mutation" is used in Biology for the final transformation that takes place in nature. Patanjali refers to this radical transformation as "Jatyantara-parinama."

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरणात् । (योगसूत्र, कैवल्यपाद २)

It is a change, not of degree, but of kind, a new species, in the overflow of nature. It is "Upalabdhi", not "Prapti". The spiritual man is the overflow of nature, he is not a product of continuity.

Vimalaji drew our attention to three limitations of mental effort. (1) the mind functions only between the gap of birth and death, the gap of the manifest and the unmanifest. Sri Krishna has said in the Bhagavadgita that he who lacks intelligence regards the unmanifest as the manifest. You and I are fundamentally the unmanifest.

The mind does not function in the unmanifest. Nachiketa persisted in his enquiry about the secret of death. Yama has explained this secret in the Kathopanishad in these words—"that which is here is also there, that which is there is also here." The manifest is here, but not there, it is the unmanifest which exists in life and death. If you can commune with the unmanifest you will know not only the secret of death, but of life as well.

(2) Mind creates the element of time. Having created time, it functions with the limitation of time. We live

from the past to the future, but never in the present. Living can be only in the present, but we do not live at all. The present is not a compromise between the past and the future. The present is there when the time ceases; it is only a moment (Kshana). The "Kshana" is put into "Krama" (sequence) by the mind of man. Everything is momentary; the timeless moment is the only moment in which one can live. Shankaracharya says in his Viveka-chudamani :

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥

Apratikara = without reaction. Chinta = worrying about the future. Vilapa = wailing over the past. Mind is free from the past and the future when it lives in the present. That is the state of happiness and true forbearance. But the mind does not allow us to live in the timeless moment.

(3) There is nothing like an individual mind, there is a common mind. And the mind functions within that common ground. The mind can function only in the realm of continuity. The universal mind is the continuity in which we live, within the limits of the mind.

Meditation comes only when mental effort ceases. Meditation is not something that comes about in the process of thinking. I can think only about what I know; I may go on decorating the walls of the known, but I have to remain within the confines of the known.

An important observation has been discovered in the unpublished papers of Einstein—"by logic or reasoning no law or secret can ever be discovered. There is only one way and that is the way of intuition." Intuition is just another name for that which is not mental activity.

When the movement of mind ceases a new movement comes into existence. It is initiated by life itself. In meditation an entirely new movement comes into existence; not of the mind, but in the mind.

Completely disillusioned by the comforts offered by science and technology, the Western mind is experiencing a sense of revolt. The Hippies represent a phenomenon of revolt in young people living in comforts given by science and technology. Comfort and happiness are not identical. The Bhagavadgita has given this truth in the words—अशान्तस्य कुतः सुखम्—one who lacks peace of mind, how can he be happy ? But it took a long time for science and technology to bring home this truth to man. The unfortunate part is that while the West is turning towards it, we in India are turning away from it. We have to be re-educated in our own philosophy.

Today meditation camps like this are more necessary in India than anywhere else in the world. We have no right to speak to the world about Upanishads and Bhagavadgita. We have to put our own house in order.

How shall man be happy ? The West in revolt against comforts has gone in search of psychism, para-psychology, super-physical phenomena, miracles. There is no greater miracle than the miracle of love. Kabir has said—"One grain of love is sufficient to transform the individual". We have forgotten this miracle of love. It is necessary to come to the fundamental point and realise that the psychic and the spiritual are completely different. The problem of man is to find a spiritual base.

The question whether or not there can be a relationship of Guru and Shishya in spirituality is another important point

touched by Vimalaji. We have talked for centuries about Guru-Shishya. The Shishya sits at the feet of the Guru and the Guru out of his grace enables the Shishya to find illumination. Is there such a relationship ?

We have made Guru and Shishya into fixed points. If life is in a state of flux, how can there be anything with a fixed position ? When something is fixed in the stream of life, the very living of life itself is lost. The living quality cannot be compared to a frame. We first make a frame and then put a picture into it. That has been happening in Guru-Shishya relationship, Spiritual living can be constant, but it cannot be continuous. Make it continuous and you deal with dead entities. ''Constant'' moves from moment to moment. If we understand this revolutionary idea of a dynamic relationship, then the pupil has to be a pupil every moment and the master has to be a master every moment. The relationship of Guru and Shishya is only a relationship of love. In love there is a constant experience. In a framework of continuity you cannot have love. Love is always from moment to moment.
''क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः''

Being new in every moment, that is the nature of beauty.

When Janaka wanted to offer a gift to Yajnavalkya in appreciation of his help in solving many serious problems, Yajnavalkya said that he could accept a gift only after he had given everything. The function of a Guru is to make himself superfluous. Guru is not one who makes the individual lean against, but one who does not let him settle down. He breaks walls of the known and demands that you live in the open space of life.

When does enquiry degenerate into curiosity ? Is there

any enuiry that has started within us ? What is it that brings about a degeneration of enquiry into curiosity ? When you enquire about something, God, Truth or something else, then enquiry degenerates into curiosity. Enquiry has not to be in regard to any particular thing. "I am open to God" is a closed mind. "I am sensitive to something.'' Sensitivity has nothing to do with this or that. Enquiry is a state of openness, complete freedom, not freedom from something, not sensitive to something.

Meditation is that state oi complete openness, sensitivity so that we can absorb without resistance or indulgence whatever life brings to us. The following sloka of the Bhagavadgita is very pertinent here.

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

If all the impulses can enter your consciousness as all rivers meet the sea, then you can get peace of mind. The sea does not make a distinction or selection between fresh or muddy water. Similarly, the consciousness does not select "good" or "bad" impulses—शुभाशुभपरित्यागी.

Right perception is necessary for right action. "Avarana" (covering, cencealing), and "Vikshepa'' (distraction) are the two powers of the mind. Of the two Avarana is a more serious danger.

The observer-observed relationship is the cause of unhappiness. द्रष्टृदृश्यसंयोगो हेयहेतुः There is a rope but I see a snake. I project and am afraid. There is no fear without duality. Freedom from fear comes with the communion with the unity of life.

I feel fortunate in having been able to attend Vimalaji's discourses in this camp.

●



